गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका
Monthly Research Magazine

(सितम्बर - दिसम्बर २००२)

सम्पादक

प्रो० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

प्रो० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य

पी-एच.डी., डी.लिट्.

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार -२४९४०४

सितम्बर - दिसम्बर सन् २००२ ई०	वर्ष ५४ वां	आश्विन - पौष सम्वत् २०५९

सम्पादक मण्डल

मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल हरिद्वार फोन : 415975

विषयानुक्रमणिका

वेदमञ्जरी

बाधकः शत्रुः मार्गाद् दूरं गच्छतु

अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्।
दूरमधि स्रुतेरज।। (ऋग्० १.४२.३)

ऋषिः कण्वः घौरः। **देवता** पूषा। **छन्दः** गायत्री।

हे पूषन्! हे परमात्मन्! (**त्यं**) तम् (**परिपन्थिनं**) मार्गे बाधकं रिपुम्, (**मुषीवाणं**) चौरम्, किञ्च (**हुरश्चितम्**) कौटिल्यसंग्राहकं जनम् । (**स्रुतेः अधि**) मार्गाद् (**दूरं**) दूरे (**अज**) प्रक्षिप।।

धर्ममार्गे चलितुं सर्वाणि वेदादिशास्त्राणि पुनः पुनः प्रेरयन्ति। परन्तु असौ धर्ममार्गः सरलो नास्ति, प्रत्युत बहु कण्टकाकीर्णो विद्यते। अनेके छद्मवेषधारिणो रिपवः पथि बाधका भूत्वा संतिष्ठन्ते, येषां पराजयोऽतीव कठिनो भवति। यदा कश्चिज्जनो धर्ममार्गे चलितुं व्रतं गृह्णाति, स्वयात्रां च प्रारभते, तदा अधार्मिकेषु मानुषेषु चिन्ता जायते। ते चिन्तयन्ति यद् धार्मिकाणां संख्या चेच्छनैः शनैः वृद्धिं गमिष्यति, तर्हि अधर्मः कन्दरायां मुखं प्रच्छन्नं कर्तुं बाधितो भविष्यति, अस्माभिश्च क्वचित् चरणन्यासं कर्तुमपि आश्रयो न लप्स्यते। अतस्ते धर्ममार्गे विघ्नान् सम्पादयितुं षड्यन्त्रं कुर्वन्ति। किञ्च धर्ममार्गपथिकान् मोहयितुम् अधर्ममेव धर्माचाररूपेण प्रख्यापयन्ति। ते कथयन्ति कर्मफलदाता परमात्मा कर्मफलभोक्ता जीवात्मा च कपोलकल्पितौ वर्तेते। अतः एतयोः सकाशात् केनापि न भेतव्यम्। नरो यत् कृत्वा सुखं लभते तदेव धर्मः। अतः खादत, पिबत, नृत्यं कुरुत। एतदेव तात्त्विकं जीवनम्, एतदेव च धर्मः। परं वस्तुतस्तु धर्मस्यैतद् रूपं प्रस्तुवाना जना धर्ममार्गस्य परिपन्थिनः सन्ति।

धर्मपथस्य पथिको यं सत्याऽहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादिपाथेयं गृहीत्वा चलति तस्यापहर्तारो 'मुषीवाणो' ऽपि बहवः प्राप्यन्ते। ते अहिंसातो हिंसां, सत्याद् असत्यं, अस्तेयात् स्तेयं, ब्रह्मचर्याद् अब्रह्मचर्यम् प्रशस्यतरं ब्रुवाणास्तानि आकर्षकरूपेषु च प्रस्तुवन्तः अहिंसादिसम्पत्तिं तत्सकाशाद् वञ्चयन्ति, हुरश्चितश्च भूत्वा धर्मपथिकस्य मनः कुटिलतानाम् आवासभवनं कुर्वन्ति। एतेभ्यः परिपन्थिभ्यः, मुषीवभ्यः, हुरश्चिद्भ्यश्च धर्मयात्रिभिरस्माभिः सतर्कैर्भाव्यम्, अन्यथाऽस्माकं धर्मयात्रा विघ्निता विच्छिन्ना च सम्पत्स्यते।

धर्मयात्रायाम् अस्माकं केवलम् एतेभ्यो बाह्यशत्रुभ्य एव भयं नास्ति, किन्तु अस्मदभ्यन्तरमपि शत्रवो दुर्गं कृत्वा स्थिताः सन्ति। अस्माकमन्तःकरणे प्रच्छन्नरूपेण स्थिता धर्मविरोधिनो विचारा धार्मिकविचारान् पराजेतुमपहर्तुं वा समीहमानाः अस्मदन्तःकरणं कुटिलतानां संग्रहालयं कर्तुं षड्यन्त्रं कुर्वन्ति। तेभ्यो धर्मविरोधिभ्यो विचारेभ्योऽपि अस्माभिः सतर्कैः स्थातव्यम्।

हे पूषन्! अस्मदात्मने पुष्टिदायक हे परमात्मन्! त्वमस्माकं धर्ममार्गबाधकान् बाह्यान् आन्तरांश्च रिपून् दूरं प्रक्षिप, अस्मभ्यं च स्वधर्मयात्राप्रवर्तनाय सततं पुष्टिं प्रदेहि।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय...........

२३ दिसम्बर, बलिदान दिवस पर –

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द को कोटि–कोटि नमन!

धन्य है यह रत्नगर्भा भारतमाता जिसकी कोख से समय–समय पर राष्ट्र और मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व स्वाहा कर देने वाले महापुरुष उत्पन्न होते रहे हैं। ऐसे नररत्नों की अमर परम्परा में स्वामी श्रद्धानन्द का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

युग द्रष्टा, युगस्रष्टा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पराधीन भारत की दुर्दशा, अज्ञानान्धकार में भटकती हुई मानवता और हर प्रकार से प्रताड़ित नारी जाति की दुरवस्था, लार्ड मैकाले द्वारा देश के स्वाभिमान को नष्ट करने के लिये प्रचलित शिक्षा व्यवस्था से भारत को मुक्त कराने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया। विष के प्याले पिये, ईंट और पत्थर खाए, हर प्रकार का अपमान सहा किन्तु जीवन भर अमृत बाँटते रहे। महर्षि के संकल्प को पूर्ण करने के लिए **पं. लेखराम, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज** प्रभृति अनेक भारतरत्नों ने भारतमाता की सेवा में अपने जीवन दीप अर्पित किये।

२३ दिसम्बर १९२६ को मदान्ध अब्दुल रशीद की गोली से शहादत को प्राप्त करने वाले स्वामी श्रद्धानन्द की जीवन गाथा धरती से गगन छूने की, अयस् से स्वर्ण बन जाने की प्रेरणादायक कहानी है। स्वामी जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। जो उनको देखता वह देखता ही रह जाता। इंग्लैण्ड से आने वाले यात्रियों ने स्वामी जी के भव्य व्यक्तित्व में ईसा मसीह के दर्शन किए थे। अपने आचार्य देव दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश में प्रतिपादित गुरु–शिष्य के पवित्र सम्बन्धों पर आधारित गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति को मूर्त्तरूप देने के लिये हरिद्वार में गंगा के पावन तट पर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। **स्वामी श्रद्धानन्द के सपनों का प्यारा गुरुकुल सौ वर्ष की यात्रा पूर्ण कर दूसरी सदी में प्रवेश कर चुका है।** भारत के प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेई ने गुरुकुल कांगड़ी के प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त करने के लिए तथा महान् शिक्षा शास्त्री, स्वाधीनता सेनानी स्वामी श्रद्धानन्द को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए २४ दिसम्बंर २००२ को अपने आवास पर एक डाक टिकट जारी किया। २३ दिसम्बर को गुरुकुल कांगड़ी में विशाल शोभायात्रा का आयोजन किया गया। अनेक राष्ट्रीय स्तर के कार्यक्रम सम्पन्न हुए। अखिल भारतीय स्वामी श्रद्धानन्द हॉकी टूर्नामेन्ट की सभी दर्शकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का निरन्तर विस्तार हो रहा है। नये—नये पाठ्यक्रम चल रहे हैं, छात्रों और शिक्षकों की संख्या भी बढ़ रही है। आवश्यकता इस बात की है कि हम सब कुलवासी अपने आचार्य के सपनों को साकार करने के लिए प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर दें।

बलिदान दिवस पर स्वामी जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने वाले प्रत्येक आर्यसमाजी का यह पावन कर्त्तव्य है कि आपस की फूट और मनोमालिन्य को दूर कर राष्ट्रीय एकता, नारी शिक्षा, अछूतोद्धार और वैदिक शिक्षा, संस्कृति की रक्षा के लिए सर्वस्व स्वाहा करने के लिए कटिबद्ध हो जाएं।

नये कुलाधिपति पं. सुदर्शन जी शर्मा

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान, आर्यजगत् के दानवीर, सरलता एवं निश्छलता की प्रतिमूर्त्ति पं. हरबंसलाल जी शर्मा के कुलाधिपतित्व में विश्वविद्यालय प्रगति पथ पर अग्रसर था। पण्डित जी दिन—रात गुरुकुल की उन्नति का चिन्तन करते रहते थे, अकस्मात् ३ दिसम्बर को विधाता ने उन्हें हमसे छीन लिया। गुरुकुल कागड़ी में शोक की लहर व्याप्त हो गई। हजारों की संख्या मे सब ओर से आर्यजन जालन्धर पहुँचे, उस आर्यरत्न के दर्शन करने के लिए। अद्भुत दृश्य था अन्तिम यात्रा का, श्रद्धाञ्जलि सभा का। किन्तु विधि का विधान अपरिवर्तनीय है, उसे कब कौन रोक पाया? पंजाब के आर्यजनों ने उस महापुरुष को भावपूर्ण श्रद्धाञ्जलि दी, और उनके सपनों को साकार करने के लिए **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** के अनुसार उनके सुयोग्य सुपुत्र **श्री सुदर्शन जी शर्मा** को सभा के प्रधान पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद् ने भी सर्वसम्मति से **श्री सुदर्शन शर्मा** को विश्वविद्यालय के कुलाधिपति पद पर अभिषिक्त किया है। अभियान्त्रिकी की उच्च शिक्षा प्राप्त श्री शर्मा जी जहाँ पंजाब के प्रसिद्ध उद्योगपति हैं, अनेक शिक्षण संस्थाओं के अध्यक्ष हैं, वहाँ धर्म, संस्कृति एवं राष्ट्र के प्रति असीम श्रद्धा रखने वाले तथा उदात्त व्यक्तित्व के स्वामी है। गुरुकुल वासियों को पूर्ण विश्वास है कि जैसे स्वामी श्रद्धानन्द के सपनों को उनके पुत्र पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति ने साकार किया था, वैसे पं. हरबंसलाल जी के अधूरे सपनों को उनके सुपुत्र पं. सुदर्शन जी अवश्य ही पूर्ण करेंगे।

सम्पूर्ण गुरुकुल परिवार की ओर से नवनियुक्त कुलाधिपति का हार्दिक स्वागत अभिनन्दन एवं वन्दन।

कुलाधिपति श्री सुदर्शन शर्मा, परिद्रष्टा श्री सदानन्द जी एवं कुलपति प्रो स्वतन्त्र कुमार जी के सुयोग्य मार्गदर्शन में यह विश्वविद्यालय प्रगति पथ पर निरन्तर अग्रसर रहे, यही प्रभु से प्रार्थना है।

प्रो. महावीर

गुरुकुल के ऋषि कोटि के आचार्य स्वामी अभयदेव

"नंगा सिर, छोटे–छोटे बाल, दुबला–पतला शरीर, शुद्ध खद्दर का कुर्ता, धोती के स्थान पर दो गज खादी का टुकड़ा, पैरों में सादे चप्पल, सिर उठाये, आँखें आधी मिची हुई, गम्भीर मुद्रा में धीरे–धीरे टहल रहे हैं।" ये हैं आचार्य देवशर्मा, जो संन्यासाश्रम में प्रवेश के पश्चात् आचार्य अभयदेव के नाम से विख्यात हुए।

आचार्य 'अभय' अपने सादे रहन–सहन, अपरिग्रह, त्याग, तप, आध्यात्मिक जीवन और गम्भीर ज्ञान से प्राचीन काल के ऋषि प्रतीत होते थे। वे अनेक रूपों में हमारे सामने आते हैं। कभी हम उन्हें छोटी आयु में ही योग के लिये एकान्त वास करते देखते हैं, कभी साबरमती आश्रम के साधक और गांधी जी के विश्वस्त परामर्शदाता के रूप में पाते है, कभी सत्याग्रह आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते और जेल जाते देखते है, कभी गुरुकुल के आचार्य रूप में विशाल जन समूह के समक्ष नव–स्नातकों को दीक्षान्त का मार्मिक उपदेश करते पाते हैं, कभी आर्य समाज की वेदी से आर्य जनता के सम्मुख वैदिक अध्यात्म–प्रवचन करता हुआ देखते हैं। कभी वे वैदिक–साहित्य के मर्मज्ञ लेखक के रूप में हमारे सामने आते हैं, कभी श्री अरविन्द के योगमार्ग के पथिक के रूप में उनके दर्शन होते हैं।

मेरा प्रथम परिचय

मुझे उनसे प्रथम बातचीत का या हल्के से सम्पर्क का अवसर तब मिला जब मैं नवम श्रेणी में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में कुलमन्त्री था। उस समय ये जेल में थे। श्रद्धानन्द बलिदान पर्व पर सन्देश भेजने के लिये मैंने उन्हें पत्र लिखा। उनका कुछ भी उत्तर प्राप्त नहीं हुआ, जबकि गांधी जी आदि अन्य प्रायः सभी महापुरुषों के, जिन्हें पत्र लिखे थे, उत्तर आये। यह देख मेरे मन में इनके प्रति कुछ–कुछ अश्रद्धा उत्पन्न हुई। मैंने सोचा कि ये अपने आपको बहुत बड़ा समझते हैं, जो उत्तर तक न दिया। कई महीने बीत गये और मैं इस बात को भूल भी गया। एक दिन अचानक मुख्याध्यापक जी के सेवक ने आकर मुझे सूचना दी कि आपको देवशर्मा जी याद कर रहे हैं। मैं पहुंचा तो उन्होंने कहा कि जेल में तुम्हारा पत्र मिला था, उत्तर में मैंने स्वयं भी सन्देश लिखा था तथा जेल में जो मेरे साथ बड़े–बड़े लोग थे उनसे भी सन्देश लिखवाये थे। पर बाद में मुझे पता लगा कि जेल के अधिकारियों ने वह पत्र भेजा ही नहीं। तुमने मेरे पत्र की प्रतीक्षा की होगी। उनकी यह बात सुन तसल्ली हुई कि इतने दिन पुरानी बात उन्होंने याद रखी, मेरा नाम भी स्मरण रखा और स्वयं मुझे बुलाकर इस बात की सूचना देना भी आवश्यक समझा। यह बात

बहुत छोटी सी है, परन्तु इससे उनके चरित्र की एक विशेषता पर प्रकाश पड़ता है।

मेरा लेख पढ़ा

मेरा महाविद्यालय का शिक्षा–काल अभिकतर आपके ही आचार्यत्व में व्यतीत हुआ। मैं अपने ऊपर उनकी विशेष छत्रछाया अनुभव करता रहा और मैंने उनसे बहुत कुछ पाया। महाविद्यालय में हम अपनी 'साहित्य संजीवनी' परिषद् की ओर से एक 'राजहंस' नामक हस्तलिखित पत्रिका निकाला करते थे। पत्रिका प्रकाशित होने से पूर्व हस्ताक्षरों के लिये आचार्य जी के पास जाती थी। मैंने प्रथम वर्ष अभी पार ही किया था। एक दिन पत्रिका के संपादक ने मुझे बताया कि मैं नवीन अंक पर हस्ताक्षर कराने आचार्य जी के पास गया था। आचार्य जी एक–एक पन्ना पलटते जा रहे थे। जब तुम्हारा लेख आया तो जरा रूके, दो-तीन मिनट में सारा लेख पढ़ गये, फिर मुस्करा कर आगे बढ़ गये। मेरे लेख का शीर्षक था–'इन्द्र तुम्हें भून डालेगा।' उसमें ऋग्वेद के एक मन्त्र २.१२.१० पर तरंगमय व्याख्या थी। कुछ दिन बाद अचानक एक दिन मैं आचार्य जी के सामने पड़ गया। मुझसे बोले, 'मैंने तुम्हारा लेख पढ़ा था, तुम्हें वेद में रुचि प्रतीत होती है।' फिर पूछने लगे कि वेद तुम्हें क्यों अच्छा लगता है। जब मैं इसका कुछ समुचित उत्तर न दे सका, तब स्वयं उन्होंने मुझे कुछ बातें इस विषय में बतायीं कि वेद क्यों अच्छी लगने वाली वस्तु है।

छात्रों के विकास में रुचि

महाविद्यालय के चार वर्षों में मैं उनसे विशेष मिलता-जुलता रहा होऊं, ऐसी बात नहीं है, उनसे सीधे तौर पर बातचीत के भी बहुत कम अवसर आयें। तो भी मैंने अनुभव किया कि मेरे विकास की ओर सदा उनका ध्यान रहता है। मेरे ही साथ कुछ पक्षपात हो ऐसी बात नहीं है। महाविद्यालय के सभी छात्रों के बारे में अन्दर ही अन्दर उन्हें परिचय रहता था तथा किसमें क्या शक्ति निहित है इसे पहचानने का तथा उसे विकसित करने का वे यत्न करते थे। व्यायाम, अखाड़े में कुश्ती लड़ना, खेल, तैरना, बैंड–वादन, वक्तृत्व–कला, सेवा, अध्ययन जिसको जिसका शौक होता था, उसमें उसे प्रोत्साहित करते थे। महाविद्यालय के छात्रावास में कोने का एक छोटा कमरा उन्होंने अपने लिए नियत किया हुआ था। प्रतिदिन निश्चित समय पर एक घंटा वहां आकर चरखा चलाया करते थे। वह समय उन्होंने विद्यार्थियों से मिलने के लिए रखा हुआ था। जिसे कुछ कहना हो वह उस समय जाकर कह सकता था। उन्होंने किसी से कुछ कहना होता तो वे बुला लिया करते थे।

प्रभावित करने का ढंग

आचार्य जी के कार्य करने और छात्रों को प्रभावित करने का ढंग विलक्षण था। वे बार–बार उपदेश देने के स्थान पर अपने जीवन, व्यवहार और अन्तरात्मा की तरंग से प्रभाव छोड़ने का यत्न करते थे। उस समय भोजन–भण्डारी उच्च श्रेणी के छात्र ही बारी–बारी से प्रति मास होते थे। मास

के अन्त में प्रत्येक भण्डारी सहभोज कराता था, जिसमें महाविद्यालय के शिक्षक तथा गुरुकुल के उच्च अधिकारी भी निमन्त्रित होते थे। एक बार भण्डारी आचार्य जी को निमन्त्रित करने गया तो उन्होंने आने से मना कर दिया और कहा कि कारण तुम्हारे कुलमन्त्री को बताऊँगा। कुलमन्त्री मैं ही था, डरता–डरता सेवा में प्रस्तुत हुआ। कहने लगे, 'मुझे ज्ञात हुआ है कि भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व जो वेदमन्त्र बोला जाता था, उसे बोलना तुम लोगों ने छोड दिया है। सहभोज वाले दिन तो तुम बोल ही लोगे, पर मैं तो रोज की बात करता हूँ। इसलिए मैं तुम लोगों के साथ बैठ कर भोजन करने योग्य अपने को नहीं पाता।' बात मुझे चुभी, अन्य साथियों को जाकर बताया तो उन्हें भी सहन न हुआ कि इस कारण आचार्य जी हमारे बीच में न आयें। सबने निश्चय किया कि आज से फिर मन्त्र बोलना आरम्भ कर देंगे। आचार्य जी को हम लिवा लायें। वे भी गद्गद् हुए, हमें भी प्रसन्नता हुई।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान २३ दिसम्बर १९२६ को हुआ था। प्रारम्भ में 'श्रद्धानन्द बलिदान पर्व' की एक ही छुट्टी रखी गई थी। आयोजन अधिक दिनों का होता था। यज्ञशाला में अखण्ड यज्ञ चलता था, क्रीड़ा–सामुख्य होते थे, सांस्कृतिक कार्यक्रम भी चलते थे। कुछ वर्ष छात्र अधिकारियों में विशेष छुट्टिया माग कर काम चलाते रहे। १९३२ में छात्रों ने आवाज उठायी कि अधिकृत छुट्टियां सात होनी चाहिए। उस समय पं. देवशर्मा जी आचार्य थे। शासन आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का चलता था। उसकी अन्तरंग सभा ने इन्कार कर दिया। छात्र अधीर हो गये, 'पढ़ने नहीं आयेंगे' का नोटिस दे दिया गया। आचार्य जी को इससे वेदना हुई। वे विद्यार्थियो के बीच में आये और जो मार्मिक प्रवचन उन्होंने किया उसका प्रभाव यह हुआ कि कुछ करने का विचार छोड़ दिया गया। नपे–तुले उनके शब्द थे, उनमें कोई बनावट नहीं थी, हृदय की गहराई से निकले थे। उनका एक वाक्य यह था– 'देवशर्मा को तुम डंडे से हॉकने योग्य मत समझो।' विद्यार्थी शान्त हो गये। बाद में आचार्य जी ने सभा से पाच छुट्टिया स्वीकृत करवा दीं। कई बार विद्यार्थी उनसे रुष्ट हो जाते थे और यह रोष सामूहिक असन्तोष का भी रूप धारण कर लेता था। पर अन्त में उनकी स्नेह–मिश्रित दृढ़ता सदा अच्छा ही प्रभाव उत्पन्न करती थी और जो विद्यार्थी किसी कारण उनसे असन्तुष्ट होते थे, वे भी उन्हें अपना हितचिन्तक मानने के लिए बाध्य होते थे।

कई बार किसी गम्भीर अपराध के कारण विद्यार्थियों को वे गुरुकुल से पृथक् भी कर देते थे। परन्तु जब वे यह देखते थे कि बाहर जाकर विद्यार्थी ने अपनी भूल अनुभव कर ली है तो कुछ समय बाद पुन: उसे बुला लेते थे। ऐसा कइयों के साथ हुआ। वे कहते थे कि विद्यार्थी का सुधार मेरा उद्देश्य है, व्यक्ति से मुझे द्वेष नही। प्राय: ऐसा होता था कि दो–तीन मास बाहर रह कर ही विद्यार्थी को बोध उत्पन्न हो जाता था, क्योंकि गुरुकुल की परीक्षाओं की मान्यता नही होने से बाहर कहीं उसका प्रवेश नहीं हो सकता था। गुरुकुल का जीवन भी उसे याद आता ही था। एक बार महाविद्यालय के दो छात्रों को उन्होंने गुरुकुल से चले जाने का आदेश दिया। वे छात्र

गये नहीं, प्रत्युत कुछ शिक्षकों से उन्होंने कहा कि किन्हीं की असत्य शिकायतों के आधार पर आचार्य जी हमें दोषी मान कर निकाल रहे हैं। वातावरण कुछ गरम हो चला। शिक्षक बीच में पड़े। आचार्य जी ने उनके अपराध के पूरे प्रमाण दे दिये और शिक्षकों को बताया कि इनमें से एक छात्र तो ऐसा है, जिसके पिता जी शुल्क नहीं दे रहे, अपितु मैंने व्यक्तिगत रूप से एक धनपति को कहकर इसके शुल्क का प्रबन्ध किया हुआ है। यह बात उस छात्र तक को नहीं मालूम थी। इससे लहर का रुख ही बदल गया। छात्रों ने क्षमा–याचना की और पुन: वे गुरुकुल में रह गये।

प्रभावशाली भाषण

आचार्य जी का नाम उच्चकोटि के व्याख्याताओं की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता था, तो भी उनका भाषण बड़ा प्रभावकारी होता था। गुरुकुल में पहले प्रति सप्ताह शनिवार को स्वाध्याय-सम्मेलन करने की परिपाटी थी, जिसमें वेद, कला, आयुर्वेद सब महाविद्यालयों के छात्र इकट्ठे प्रार्थनाभवन में अग्निहोत्र करते थे तथा उसके पश्चात् आचार्य जी का प्रवचन होता था। सरल रूप में वेद, उपनिषद् आदि के प्रसंग तथा छात्रों के काम की बातें उसमें कही जाती थी। सारा भाषण पहले से सुविचारित और ऐसा सारमय होता था कि उसमें कुछ भी अंश व्यर्थ नहीं कहा जा सकता था। वह शब्दश: वैसा का वैसा उस समय निकलने वाले साप्ताहिक पत्र 'गुरुकुल' में छप जाता था।

व्रताभ्यास

गुरुकुल में छात्रों के चरित्रनिर्माण पर आप विशेष बल देते थे। जैसे परीक्षा में अन्य विषयों के अंक रखे गये थे, वैसे आपने व्रताभ्यास के भी अंक रखवाये थे। प्रतिमास छात्रों को नियम–पालन के अंक दिये जाते थे, जो वार्षिक परीक्षा में जुड़ते थे। अन्य विषयों में कोई छात्र प्रथम श्रेणी में भी क्यों न उत्तीर्ण हुआ हो, किन्तु यदि व्रताभ्यास या नियमपालन में अनुत्तीर्ण होता था, तो अगली कक्षा में नहीं चढ़ सकता था। आपका यह भी प्रयत्न रहता था कि नियम–पालन भय से नहीं, किन्तु स्वेच्छा से किया जाये। आपने परीक्षण के रूप में तृतीय और चतुर्थ वर्ग के छात्रों में स्वशासन की योजना क्रियान्वित की थी। हम छात्रों में से ही प्रतिमास क्रम से एक–एक छात्र अध्यक्ष बन जाता और वही सबके नियम पालन की देख–रेख करता था तथा वही व्रताभ्यास के अंक भी देता था। स्नातक बनते समय गुणस्वभावानुसार आचार्य की ओर से छात्रों को वर्ण प्रदान करने की परिपाटी भी आप चलाना चाहते थे। आपका कहना था कि जिन छात्रों को अध्ययन-काल में मैं अच्छी तरह परख लूंगा उन्हें वर्ण दिया करूंगा। तदनुसार दो छात्रों को आपने वर्ण दिये भी थे, एक को ब्राह्मण वर्ण तथा दूसरे को क्षत्रिय वर्ण। 'अपना काम अपने हाथों से करना' इस सिद्धान्त का वे स्वयं भी पालन करते थे तथा इसके लिए छात्रों को भी प्रेरित करते थे।

ग्रन्थलेखन एवं सम्पादन

गुरुकुल में रहते हुए आपने वैदिक साहित्य सम्बन्धी जो पुस्तकें लिखी हैं, वे आर्यसमाज

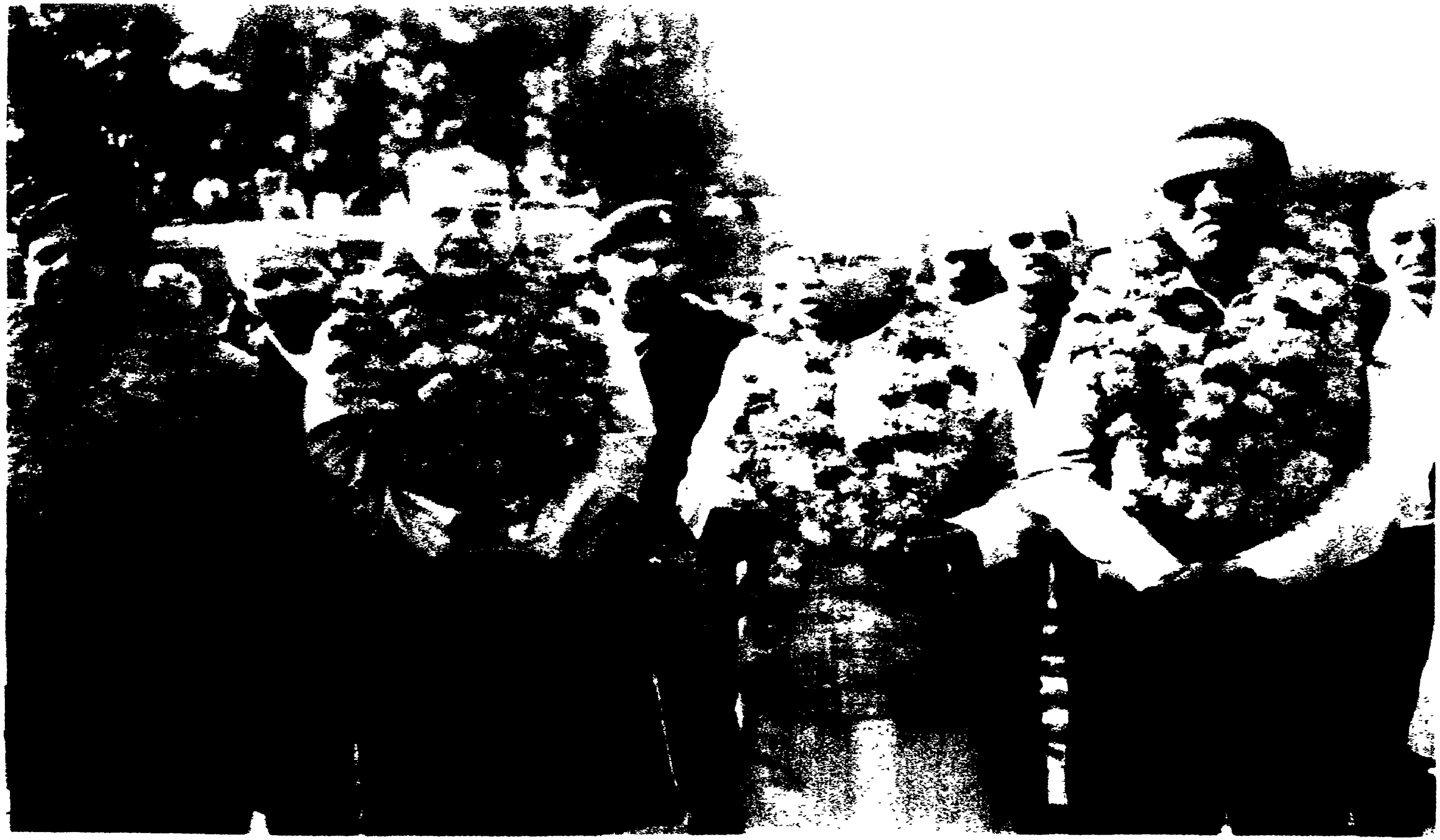
तथा गुरुकुल के लिए गौरव की वस्तु हैं तथा प्रत्येक वेदप्रेमी के लिए पठनीय और मननीय हैं। तीन भागों में प्रकाशित 'वैदिक विनय' जहां एक सुन्दर वेदव्याख्या-ग्रन्थ है, वहां साथ ही साथ चरित्र-निर्माण और प्रेरणा की पुस्तक भी है। इसे लिखने का विचार आपने स्वामी दयानन्द की 'आर्याभिविनय' पुस्तक से लिया था। प्रथम भाग जेल में लिखा गया। मन्त्रगत भाव विनय में पूर्णत: प्रतिबिम्बित हैं तथा विनय को पढ़ते हुए पाठक का हृदय तरंगित तथा रसविभोर हो उठता है। अनेक संस्करणों के प्रकाशित हो चुकने तथा कई भाषाओं में अनुवाद निकल चुकने के पश्चात् अब भी इसकी माँग बनी हुई है। 'ब्राह्मण की गौ' तथा 'वैदिक ब्रह्मचर्य गीत' भी अपने ढंग की अनूठी पुस्तकें हैं। आपका 'तरंगित हृदय' यद्यपि वैदिक साहित्य सम्बन्धी रचना नहीं है, तो भी एक अद्भुत काव्य-कृति है तथा उसकी तरंगें किसी भी मरु—हृदय को सरस और उद्बुद्ध करने में समर्थ हैं। साहित्यिक दृष्टि से उसका मूल्यांकन करते समय कोई—कोई उसे रवीन्द्र की गीताञ्जलि से टक्कर लेने वाली पुस्तक कहते हैं। पहले गुरुकुल से 'अलङ्कार' नामक एक मासिक पत्र प्रकाशित होता था। बीच में बन्द हो गया। तब आपने उसे पुन: प्रारम्भ कराया और उसका कुशल सम्पादन भी आप ही करते थे।

स्नातकों की हितचिन्ता

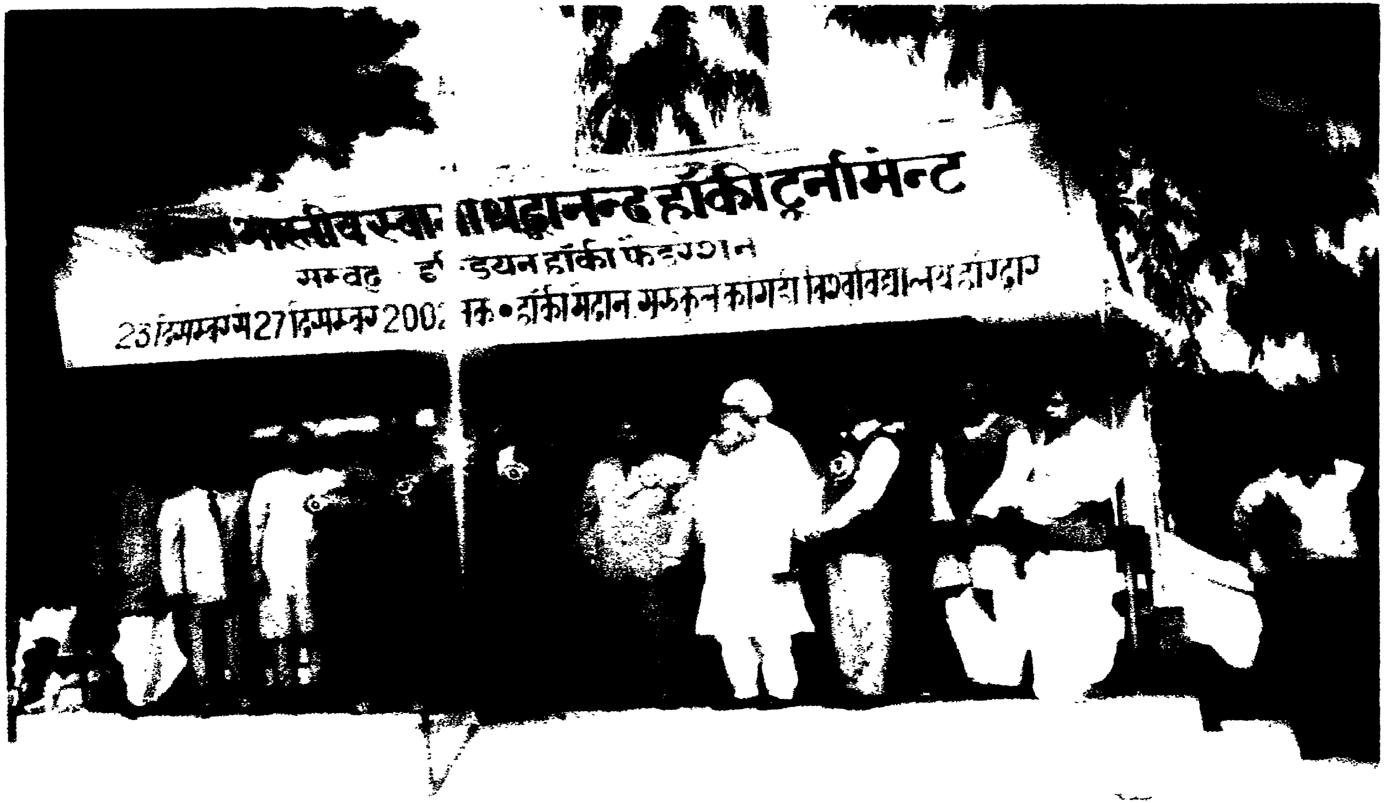
व्यक्तिगत दृष्टि से देखता हूँ तो अपने उत्थान में आचार्य अभयदेव जी का बहुत बड़ा योगदान पाता हूँ। जब मैं महाविद्यालय के चतुर्थ वर्ष में था तब आचार्य जी ने एक दिन मुझे कहा कि यदि तुम्हे रुचिकर हो तो स्नातक बनने के पश्चात् तुम महाविद्यालय में व्याकरण के शिक्षक हो जाना, उससे पूर्व कुछ समय तुम पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी के पास रहकर व्याकरण में पाण्डित्य प्राप्त कर सकते हो। उस प्रस्ताव के क्रियान्वित होने में कुछ कठिनाइयां थीं, अत: उसे छोड़ दिया गया। १९३६ में मैं स्नातक हो गया। आचार्य जी ने पूछा कि अब तुम्हारा भावी कार्यक्रम क्या है? मैंने कहा कि अभी तो मैं गुरुकुल में ही रहना चाहता हूँ, कुछ स्वाध्याय करता रहूँगा। उन्होंने कहा, ठीक है। लगभग एक मास बाद मुझे बुलाकर पूछा कि तुमने क्या—क्या अध्ययन कर लिया? मैंने बताया कि श्री पं. क्षेमकरणदास जी के हिन्दी भाष्य से सहायता लेकर गोपथ ब्राह्मण मैंने पूरा पढ़ लिया है तथा जो स्थल अच्छे लगे उन्हें पृथक् लिख भी लिया है, इसके अतिरिक्त महाभाष्य नवाह्निक का पारायण कर रहा हूँ। तब उन्होंने मेरे हाथ में ३० रुपये थमा दिये। मैंने चकित होकर पूछा, 'यह कैसे ? मैं तो केवल पढ़ता हूँ, कुछ सेवा तो आप मुझसे ले नहीं रहे, फिर इस दक्षिणा का अधिकारी कैसे हो सकता हूँ?' मेरे बार—बार मना करने पर बोले, 'यह मत समझो कि अपने पास से दे रहा हूँ। मैंने कहीं से तुम्हारे लिए प्रबन्ध कर दिया है। जब तक तुम यहाँ अध्ययन करते हो तुम्हे मैं प्रतिमास इतना देता रहूँगा, यह तुम्हारे निर्वाह के लिए है।' यद्यपि मैंने उसे स्वीकार नहीं किया तथा उनके आशीर्वादस्वरूप उसमें से केवल पांच रुपये रखकर शेष राशि लौटा दी, तो भी इससे उनकी मेरे प्रति हितचिन्ता कितनी थी यह तो प्रकट होता ही है और यह हितचिन्ता इस कारण थी कि वे मुझे योग्य बनाना चाहते थे और मुझसे कुछ आशाएं रखते थे।



नव - नियुक्त कुलाधिपति पं0 सुदर्शन जी शर्मा, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार



23 दिसम्बर 2002 को श्रद्धानन्द बलिदान दिवस पर (बायें से) पं० सुदर्शन शर्मा कुलाधिपति, श्री कैप्टिन देवरत्न आर्य प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, प्रो० स्वतन्त्र कुमार कुलपति गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार एवं श्री देवेन्द्र शर्मा सदस्य शिष्ट परिषद्



अखिल भारतीय स्वामी श्रद्धानन्द हॉकी टूर्नामेन्ट के उद्‌घाटन अवसर पर कैप्टिन देवरत्न आर्य, पुलिस महानिदेशक उत्तरांचल श्री पी0डी0 रतूड़ी, कुलाधिपति, पं0 सुदर्शन शर्मा, कुलपति प्रो0 स्वतन्त्र कुमार एवं अन्य



पुरस्कार वितरण करते हुए प्रो0 स्वतन्त्र कुमार कुलपति, प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, डॉ0 महावीर कुलसचिव एवं श्री करनार सिंह सम्पदाधिकारी

कुछ मास बाद गुरुकुल अयोध्या से मांग आने पर मुझे वहां का आचार्य पद संभालने के लिये भेज दिया। वहां मैं एक डेढ़ मास ही रहकर घर आ गया। घर पर ही आचार्य जी का पत्र आया कि जयपुर के रेगिस्तानी इलाके में एक स्थान पर वहां के ठिकानेदार गुरुकुल टाइप का एक आश्रम खोलना चाहते है, तुम्हें पसन्द हो तो वहां के संचालक तथा मुख्याध्यापक बनकर चले जाओ। मैं चला गया। लगभग डेढ़ वर्ष वहां कार्य किया। वहां से एक मास की छुट्टी पर गुरुकुल अपने छोटे भाई को प्रविष्ट कराने आया तो उस समय के मुख्याध्यापक पं. विश्वनाथ जी के आग्रह पर आचार्य जी ने मुझे गुरुकुल में ही विद्यालय में गणित का अध्यापक रख लिया। वहां मैं अंकगणित, संस्कृत, व्याकरण और धर्मशिक्षा पढ़ाने लगा।

एक दिन कहने लगे—"तुम्हारा जन्म बालकों को गणित पढ़ाने के लिए नहीं हुआ है। तुम्हारे अन्दर जो शक्ति और योग्यता निहित है, उसका विकास होना चाहिए तथा उससे ओरों को भी लाभ मिलना चाहिए। वेदोपाध्याय प्रो. विश्वनाथ जी सेवानिवृत्त होने वाले हैं, मैं चाहता हूँ कि उनके बाद तुम वेदाध्यापन का कार्य सम्भाल लो। तब तक तुम आयुर्वेद महाविद्यालय के तृतीय—चतुर्थ वर्ष को वेद पढ़ाने लगो, अभी वे वेद महाविद्यालय वालों के साथ ही वेद पढ़ते हैं। उनका अन्तर अलग करके तुम्हें दे देता हूँ।" उनका आदेश मुझे स्वीकार करना पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने मुझे श्री अरविन्द के 'सीक्रेट ऑफ दि वेद' का हिन्दी अनुवाद का कार्य भी दे दिया, जिसे उन्होंने स्वयं करना आरम्भ किया था। उन्होंने कहा कि इसके अनुवाद से तुम्हारा श्री अरविन्द के वेद सम्बन्धी विचारों से परिचय होगा तथा वेद को विशाल रूप में देखने की दृष्टि प्राप्त होगी। उससे मुझे सचमुच बहुत लाभ हुआ। अगले वर्ष प्रो. विश्वनाथ जी के चले जाने पर आचार्य जी ने मुझे पूर्णतः वेदोपाध्याय बना दिया। केवल मेरे साथ ही ऐसा किया हो यह बात नहीं, गुरुकुल के स्नातकों से वे बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे तथा उन्हें यथायोग्य स्थान पर पहुचाने के लिए यत्नशील रहते थे।

एक बार सेठ जमनालाल बजाज जी ने खादी भण्डारों के संचालन के लिए आचार्य जी से कुछ ईमानदार स्नातकों की मांग की। आपने सुभाष विद्यालंकार, धर्मवीर विद्यालंकार और सोमदत्त विद्यालंकार को भेजा। उनके कार्य से प्रभावित होकर उन्होंने फिर अन्य कई स्नातकों की भी खादी भण्डारों में नियुक्ति की।

अपने कार्य स्वयं करने की सीख

आचार्य जी छात्रों से कहा करते थे कि अपने काम स्वयं कर के देखो, तब उसमें इतना रस आने लगेगा कि दूसरे के द्वारा कराने का विचार भी असह्य हो जाएगा। छात्रों के रहने के कमरों में सफाई सेवक करता था। छात्र स्वयं करने लगे तो सचमुच उसमें आनन्द आने लगा और कमरों में सदा चीजें व्यवस्थित भी रहने लगीं। एक बार आचार्य जी ने स्वाध्याय सम्मेलन में प्रवचन करते समय छात्रों को प्रेरित किया कि तुम अपने भोजन के बर्तन स्वयं मांजा करो। उनकी प्रेरणा से छात्रों ने मांजना प्रारम्भ भी कर दिया। कुछ दिन बाद कुछ छात्रों ने आचार्य जी के पास जाकर निवेदन

किया कि भोजन–भण्डार में पीतल की भारी–भारी, मोटी–मोटी थालियां हैं, जिनमें से बहुत सी मुड़–तुड़ भी गयी है, ऐसे ही कटोरियां और गिलास हैं। क्या ही अच्छा हो यदि आप ये बर्तन बिकवा कर इनके स्थान पर हल्के, छोटे–छोटे नये बर्तन खरीदवा कर हम छात्रों को अपने पास रखने के लिए बंटवा दें। आचार्य जी इस प्रस्ताव से सहमत हो गये। सबको एक–एक सुन्दर सी थाली, दो–दो कटोरियां और एक–एक गिलास मिल गये, जिन पर छात्रों के नाम भी लिखवा दिये गये। छात्र अपने साथ उन्हें भोजनालय ले जाते थे और भोजन करके तथा मांज–धोकर अपने साथ ही ले आते थे। उन दिनों महाविद्यालय में एक छात्र था, जिसमें अनेक गुण थे। उसकी स्मृति–शक्ति अद्वितीय थी। पूरी पुस्तकें रट लेता था, सभाओं में भाषण भी रट कर करता था। बाद में स्वाभाविक भाषण भी करने लगा था। उसने उपाचार्य प्रो. लालचन्द जी को कहा कि हम यहां बर्तन मांजने नहीं आये हैं, मैं तो नहीं मांजूंगा। आचार्य जी पांडिचेरी चले गये थे। उपाचार्य जी ने पत्र द्वारा इसकी सूचना उन्हें भेज दी। आचार्य जी ने आदेश भेजा कि अपने काम अपने हाथ से करने की रुचि उसमें नहीं है, तो उसे कहो कि गुरुकुल छोड़ कर किसी अन्य संस्था में चला जाए, जहां उसे तप न करना पड़े, आराम से रहना मिल सके। गुरुकुल से चले जाने का दण्ड उस समय मौत के बराबर समझा जाता था। यह दण्ड लेने के लिए वह छात्र तैयार नहीं हुआ और क्षमायाचना करके अन्य छात्रों के समान अपने बर्तन स्वयं मांजने लगा। आचार्य जी से शिक्षा लेकर अन्य भी बहुत से कार्य छात्र स्वयं करने लगे थे, यथा श्रमदान द्वारा सड़क का निर्माण, कंटीले झाड़ी–झंखाड़ उखाड़ कर मैदान की सफाई। कहीं भूकम्प, नदियों में बाढ़ आदि आने पर विपद्ग्रस्तों की सहायतार्थ धन भेजना होता था, तो मजदूरी करके भी धनसंग्रह कर लेते थे।

देसी खेलों को प्रोत्साहन

आचार्य जी देसी खेलों को प्रोत्साहित करते थे। कबड्डी, गेंद–बल्ला, लम्बी दौड़, ऊँची कूद, बाधा–दौड़, चूहा–बिल्ली, तरह–तरह के व्यायाम, कुश्ती, झूले, मलखम्भ आदि में रस लेने को कहते थे। हॉकी के खेल को वे अमीरों का खे़ल कहते थे। सन् ३१ में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के अष्टम से दशम कक्षा तक के छात्रों की ग्रीष्मावकाश-यात्रा मसूरी पर्वत पर हुई थी, जहां छात्र एक मास रहे थे। मसूरी में उन दिनों प्रतिवर्ष एक हॉकी–टूर्नामेन्ट होता था, जिसमें हर साल मसूरी के सेंट जार्ज कॉलेज की टीम विजयी होती थी। गुरुकुल के छात्रों की हॉकी की टीम अच्छी थी। नियत शुल्क देकर टूर्नामेन्ट में उसका नाम भी लिखा दिया गया। गुरुकुल की टीम के कैप्टिन ने मुख्याध्यापक जी को कहा कि आचार्य देवशर्मा जी से प्रार्थना की जाए कि वे गुरुकुल कांगड़ी की हॉकी की टीम के मंजे हुए खिलाड़ी सैन्टर फारवर्ड देवनाथ जी को गुरुकुल से हमारी टीम में सम्मिलित होने के लिए भेज दें, तब हमारी टीम बहुत बढ़िया हो जाएगी, तब यह भी सम्भव है कि हम विजयी हो जाएं। मुख्याध्यापक मास्टर गोपाल जी ने पत्र देकर एक अध्यापक को आचार्य जी के पास भेजा। परन्तु आचार्य जी ने देवनाथ जी को भेजने से मना कर दिया और कह दिया कि कुछ दिन बाद मैं मसूरी आऊंगा, कारण तब बताऊंगा। मसूरी आये तो अपने

प्रवचन में देवनाथ जी को न भेजने का कारण यह बताया कि हॉकी अमीरों का खेल है। यह भी कहा कि तब से मैं इसके प्रति और भी उदासीन हो गया हूँ , जब गुरुकुल में प्रविष्ट एक छोटे बालक के पिता मेरे सामने आकर रो पड़े और कहा कि मेरा बालक हॉकीस्टिक मांगता है, मेरे पास इतने पैसे नहीं है। आचार्य जी ने यह भी कहा कि टीम को टूर्नामेन्ट में प्रविष्ट करने से तो तुम्हें मैंने नहीं रोका, तुम जीतते तो मुझे खुशी होती। किन्तु जीत अपने बल पर प्राप्त करो, गुरुकुल कांगड़ी की टीम के खिलाड़ी को तुम अपनी टीम का खिलाड़ी कैसे बता सकते हो। टूर्नामेन्ट में हुआ यह था कि गुरुकुल की टीम का पाला सेंट जार्ज कॉलेज की टीम से पड़ा था। पहले तो गुरुकुल की टीम ने सेंट जार्ज कॉलेज की टीम पर एक गोल कर दिया, जिससे सब दर्शकों की सहानुभूति गुरुकुल के प्रति हो गयी, किन्तु बाद में सेंट जार्ज कॉलेज की टीम ने वह गोल उतार कर सात गोल और गुरुकुल की टीम पर चढ़ा दिये।

जब हम महाविद्यालय के प्रथम वर्ष में कांगड़ी आये, तब यह नियम था कि प्रत्येक छात्र को किसी न किसी खेल में अपना नाम अवश्य लिखवाना पड़ता था। खेल थे हॉकी, फुटबॉल, देसी खेल, व्यायाम, तैराकी। एक बार आचार्य देवशर्मा जी उपचार्य प्रो. लालचन्द जी के साथ खेलों की गतिविधि देखने निकले। मुझे एक किनारे खड़ा देखकर उपाचार्य जी ने पूछा–तुमने किस खेल में नाम लिखवाया है? मैंने कहा– मेरा नाम व्यायामशाला और तैराकी में है। तब उपाचार्य जी हंस कर बोले–सबसे आसान रास्ता तुमने चुना है। इस पर मैंने नम्रता के साथ कहा–मेरे साथ व्यायामशाला चलिए और देखिए कि वहां छात्र क्या–क्या करते हैं और मैं क्या करता हूँ। मैं आग्रहपूर्वक उन्हें व्यायामशाला ले गया। दो मजबूत सूती रस्सियों पर दो लोहे के रिंग लटके हुए थे, जिन पर चमड़ा चढ़ा था। मैंने एक–एक रिंग को एक–एक हाथ से पकड़ा और झूलने लगा। इतनी ऊँची पींग मैंने बढ़ाई कि जिन्होंने पहले मुझे झूलते नहीं देखा था वे चकित हो गये। मेरे बराबर पींग बढ़ाने वाले केवल दो–तीन छात्र ही और थे। फिर मैंने सबसे बड़ा जो भार रखा हुआ था वह उठाकर दिखाया। कुछ अन्य व्यायाम भी दिखाये। यह भी बताया कि नहर में मैं मायापुर के पुल से कूद कर गुरुकुल के घाट तक आ जाता हूँ। तब उपाचार्य जी कहने लगे–हम तो तुम्हें पढ़ाकू मात्र समझते थे, यह नहीं मालूम था कि व्यायाम का कौशल भी तुममें है। आचार्य जी भी गद्‌गद् हुए। पर्वों पर छात्र हॉकी और फुटबॉल के सांमुख्यों के साथ देसी खेलों का आयोजन भी करते थे। वर्ष में एक बार नहर में तैराकी के सांमुख्य भी होते थे, जिनमें पंचपुरी के सब तैराक भाग ले सकते थे।

धन-संग्रह

एक बार यह प्रवाद चला कि आचार्य का एक प्रमुख कार्य धन–संग्रह भी है, धन–संग्रह नहीं होगा तो शिक्षकों को वेतन कहां से मिलेगा। देवशर्मा जी के कानों में यह बात पड़ी, तो वे धन–संग्रह के लिए भी जाने लगे। जो आर्यसमाज आचार्य जी को व्याख्यानमाला के लिए

आमन्त्रित करता था, उसके मन्त्री को रसीदबुकें भेज दी जाती थीं। आचार्य जी सात–आठ दिन भाषण करके आ जाते थे। मन्त्री सदस्यों से तथा नगर के अन्य धनी–मानियों से धन संगृहीत करके गुरुकुल भेज देते थे। कभी–कभी गुरुकुल भी किन्हीं आर्यसमाजों को लिखता था कि आचार्य जी आपके आर्यसमाज में धन–संग्रहार्थ आ रहे हैं, उनके भाषण रख दें तथा धन–संग्रह की व्यवस्था करवा दें। इस प्रकार आचार्य रामदेव जी जितना तो नहीं, फिर भी पुष्कल धन आ जाता था। आचार्य जी के प्रति श्रद्धालु धनपति भी थे। उन्हें आचार्य जी जिस कार्य के लिए जितना धन देने के लिए कहते थे, वे दे देते थे। बिना कहे भी भेज देते थे।

गुब्बारे बन्द, पटाखे स्वीकृत

पहले गुरुकुल में दीपावली पर्व पर ब्रह्मचारियों को सजावट आदि के लिए रंगीन पतले कागज दिये जाते थे। जो प्रत्येक को व्यक्तिगत दिये जाते थे, उनसे छात्र रंग–बिरंगे कण्डील, लटकाने की बेलें आदि बना लेते थे। जो सामूहिक रूप से दिये जाते थे, उनसे छात्र मिल कर बड़े–बड़े गुब्बारे बनाते थे और उनके बीच में आर–पार पतला तार लगाकर उसमें तेल और राल से सना कपड़ा बांधकर उसमें आग लगा देते थे, जिससे गुब्बारें में हल्की हवा भर जाती थी। उससे वे आकाश में उड़ जाते थे। कई गुब्बारे तो इतने ऊंचाई पर चले जाते थे कि तारे जैसे दीखने लगते थे। कुछ गुब्बारों में वायु के झोंकों से डगमगा कर आग लग जाती थी और वे थोड़ा ही ऊंचा जाकर गिर जाते थे। इसका आनन्द सब लेते थे। कुछ अवधि तक तो आचार्य देवशर्मा जी के समय भी ये कागज छात्रों को दिये जाते रहे, किन्तु बाद में आचार्य जी ने यह कहकर कि ये कागज स्वदेश में नहीं बनते हैं, विदेशी हैं, इन्हें छात्रों को देने पर रोक लगा दी। छात्रों को मनोरंजन के लिए कुछ न कुछ तो चाहिए ही था। कुछ छात्र आचार्य जी के पास गये और उनसे पटाखे स्वीकृत करा लाये। निर्दोष कण्डील और गुब्बारों पर रोक लगा कर दुर्गन्ध फैलाने वाले पटाखे देना, कुछ लोगों को नहीं जंचा। उस समय के वरिष्ठ प्रोफेसर पं. विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय ने भी इस पर आपत्ति की। किन्तु आचार्य जी का उत्तर था कि रंगीन कागज खरीदने से सब धन विदेश जाता है और पटाखे खरीदने से सब धन स्वदेश के कारीगरों के पास जाता है। जैसे हम विदेशी कपड़ों का प्रयोग नहीं करते, उनकी होली जलाते हैं, ऐसे ही विदेशी कागज का भी प्रयोग करना उचित नहीं है।

गुरुकुल जन्मोत्सव

गुरुकुल का जन्मोत्सव बहुत धूमधाम से मनाया जाता था। एक बैठक ऐसी होती थी, जिसमें सब आ सकते थे। उसमें गुरुकुल या गुरुकुल शिक्षाप्रणाली पर सामान्यत: प्रशंसात्मक भाषण होते थे। कुछ वक्ता गुरुकुल की किन्हीं समस्याओं पर भी बोलते थे। दूसरी बैठक में केवल महाविद्यालय के छात्र, गुरुकुल के स्नातक और गुरुकुल के उच्च अधिकारी ही आ सकते थे। इसमें छात्र या स्नातक गुरुकुल के सम्बन्ध में अपनी शिकायतें प्रस्तुत करते थे और अन्त में आचार्य जी की ओर से उनका उत्तर दिया जाता था। आचार्य देवशर्मा जी के समय भी यह क्रम

चलता रहा। किन्तु कुछ वर्ष बाद उन्होंने दूसरी बैठक पर रोक लगा दी। उनका तर्क यह था कि तुम शिकायतों को वर्ष भर जमा क्यों करते रहते हो, जब शिकायत हो तभी क्यों नहीं कहते? तभी कहने से यदि शिकायत ठीक होगी तो तभी उसे दूर कर दिया जायेगा।

महात्मा गांधी को निमन्त्रण

सन् १९३६ में जब हम स्नातक होने वाले थे, तब आचार्य जी ने नवस्नातकों को आशीर्वाद देने के लिए महात्मा गांधी को निमन्त्रण भेजा था। गांधी जी ने एक प्रश्नावली भेज दी और लिखा कि इन प्रश्नों के उत्तर यदि मेरी पसन्द के होंगे, तभी मैं आ सकता हूँ। प्रश्नावली में यह पूछा गया था कि क्या आपकी संस्था में अध्यापक, कर्मचारी और छात्र सब खद्दर के वस्त्र पहनते हैं, क्या सब सूत कातते हैं, क्या अमुक–अमुक बातों का पालन होता है? आदि। आचार्य जी ने समझ लिया कि इन प्रश्नों का उत्तर जाएगा, तब गांधी जी आने को मना कर देंगे। तब उन्होंने स्वयं गांधी जी को लिख भेजा कि आपकी प्रश्नावली का उत्तर देने पर गुरुकुल आपकी दृष्टि में खरा नहीं उतरेगा, अतः आप स्वयं मत आइये, अपना आशीर्वाद किसी के द्वारा भेज दीजिए। तब गांधी जी ने सरदार पटेल को और पं. रविशंकर जी को भेजा। वे गांधी जी का आशीर्वाद भी लाये और उन्होंने अपना आशीर्वाद भी दिया। पं. रविशंकर जी हमारी कक्षा के एक छात्र मेघाव्रत के पिता जी थे और ख्याति से दूर रहने वाले तपस्वी कर्मठ कार्यकर्ता, गांधीवाद के मूर्त रूप तथा समाजसेवी परम सन्त थे। उस वर्ष दीक्षान्त भाषण देने डॉ. गोकुलचन्द नारंग आये थे।

जीवनवृत्त

उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले में चरथावल नाम का एक रमणीक स्थान है। वही अभय जी के पिता–पितामह का निवास स्थान रहा है। आपका जन्म २ जुलाई सन् १८९६ को हरदोई में हुआ। सात वर्ष की आयु में आपके पिता पं. रामप्रसाद जी ने आपको गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट कराया। यद्यपि पढ़ने–लिखने में आपकी गणना प्रतिभावान् छात्रों में थी, तो भी आपका शरीर दुर्बल रहता था। वर्ष में कई महीने आप रुग्ण रहते थे। इसीलिए यह प्रवाद प्रचलित हो गया था कि बारह महीनों में आपने बारह श्रेणियां उत्तीर्ण कर लीं। जब आप १२ वीं श्रेणी में थे तभी से आपको एकान्तवास तथा योग की धुन लग गई थी। आपने स्वामी जी से कहकर एक अलग कुटिया अपने लिए ले ली। पिता जी को लिखा कि मैं गुरुकुल छोड़कर योग सीखने बाहर जाना चाहता हूँ, मुझे स्नातक बनने का प्रलोभन नहीं है। पर पिता जी ने आपको गुरुकुल की शिक्षा पूर्ण करने का ही परामर्श दिया। १३ वीं श्रेणी की परीक्षा हो चुकी तो दो मास के अवकाश में आप घर न जाकर योगियों की तलाश में निकल पड़े। इसी प्रकार स्नातक परीक्षा के बाद वार्षिकोत्सव से पूर्व एक मास का समय मिला तो उसमें भी आप योग सीखने श्री अच्युत मुनि के पास चले गये। सन् १९१९ में आप विद्यालंकार की उपाधि लेकर स्नातक हुए।

स्नातक होने के पश्चात् आपका विचार हुआ कि कहीं कार्यक्षेत्र में जुटने से पहले मुझे शक्तिसंचय करना चाहिए। यह सोच आपने अपने चाचा जी के पास कैराना स्थान पर बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर तपस्या करनी आरम्भ कर दी। यहाँ आप एक कुटिया में योगाभ्यास करते थे, केवल भोजन के समय बाहर निकलते थे। इन्ही दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी के आग्रह पर आप कुछ समय वैदिक अनुसंधान के लिए भी देने लगे।

अभी आपको इस प्रकार रहते छ: मास ही हुए थे कि महात्मा गांधी के १९२१ के असहयोग आन्दोलन की गूंज देश के कोने--कोने में फैल गई । आप सब कुछ छोड़ रचनात्मक कार्य के लिए चरथावल चले गये और ग्राम-पाठशाला, ग्राम-पंचायत, मदिरा-निषेध, खादी-प्रचार, विदेशी वस्त्रों की होली आदि कार्यक्रम में अपने आपको अर्पण कर दिया। पूरे डेढ़ वर्ष इस प्रकार आप कार्य करते रहे। इसी समय मेरठ कमिश्नरी की राजनीतिक कान्फ्रेंस चरथावल में हुई, जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द जी भी पधारे। कान्फ्रेंस समाप्त होने पर स्वामी जी आपको गुरुकुल ले आये। यहाँ आपने स्वामी जी के आग्रह से वेद का उपाध्याय बनना स्वीकार कर लिया। ६ महीने तक इस पद पर रहे। इसके बाद उपाचार्य बना दिये गये। उपाचार्य बने कुछ ही मास हुए थे कि आचार्य रामदेव जी के अफ्रीका चले जाने पर आपको आचार्य का कार्य भी दे दिया गया। एक वर्ष बाद आचार्य रामदेव जी के लौट आने पर आप गढ़वाल में श्रीनगर के पास एक गांव में अज्ञातवास करने चले गये। जिन दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान हुआ, आप अज्ञातवास में ही थे।

एक वर्ष इस प्रकार निवास कर आप देशाटन के लिये निकल पड़े। महात्मा गांधी के साबरमती आश्रम में भी रहे। गांधी जी से आपका अच्छा सम्पर्क था और वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया था। गांधी जी की प्रार्थना पहले गुजराती में होती थी। उनके सामने प्रार्थना हिन्दी में कर देने का प्रस्ताव रखा गया। उन्होंने पूछा कि कौन--कौन इस विचार के हैं। जब उन्हें पता लगा कि देवशर्मा जी भी इसी राय के हैं तो बोले, अच्छा, देवशर्मा ऐसा कहते हैं, तब तो अवश्य विचार करना होगा। उसके बाद प्रार्थना हिन्दी में होने लगी। देशाटन समाप्त करके जब आप गुरुकुल आये तब पुन: आपको आचार्य पद दे दिया गया। आचार्य का कार्य सम्भाले कुछ ही काल हुआ होगा कि महात्मा जी का सन् १९३० का ऐतिहासिक राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ गया और उसमें आपको डेढ़ वर्ष की जेल की सजा हुई। आपका अनुसरण कर महाविद्यालय के कई छात्र भी जेलों में गये।

जेल से मुक्त होने के बाद सन् १९३१ में स्थायी रूप से आप आचार्य बना दिये गये। लगभग तीन वर्ष तक आप कार्य करते रहे। इन्हीं दिनों आप योगी श्री अरविन्द के योग--मार्ग की ओर आकृष्ट हुए। संयोग ऐसा हुआ कि आप आचार्यत्व से त्यागपत्र देकर श्रीअरविन्दाश्रम चले गये और आपके स्थान पर पं. चमूपति जी आचार्य बने। किन्तु पं. चमूपति जी अधिक समय कार्य न कर सके। उनके चले जाने पर गुरुकुल की प्रबन्धकर्त्री सभा के सामने पुन: यह प्रश्न आया

कि अब आचार्य का पद कौन संभाले? सभाधिकारियों ने आपसे ही आग्रह किया और पुन: आप गुरुकुल आ गये। तो भी श्रीअरविन्दाश्रम से आपका जो सम्बन्ध स्थापित हुआ था, वह वैसा ही बना रहा। सभा ने आपकी इच्छानुसार इसकी स्वीकृति दे दी कि वर्ष में चार मास आप श्री अरविन्दाश्रम पांडिचेरी में रह सकते हैं।

सन् १९३८ में १३ अप्रैल को वैशाखी के दिन गंगापार पुरानी गुरुकुल भूमि में जाकर श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज द्वारा आपने ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे ही संन्यासाश्रम की दीक्षा ली, और देवशर्मा से अभयदेव कहलाने लगे। संन्यासी होने के पश्चात् भी आप वस्त्र श्वेत ही पहनते रहे। कुछ काल के उपरान्त आप पुन: आचार्य पद से त्याग–पत्र देकर पांडिचेरी चले गये, किन्तु सभा ने आपको पुन: बुला लिया। फिर आप कई वर्ष तक आचार्य का कार्य करते रहे। इस प्रकार कई बार आप गुरुकुल से गये और आये। प्राय: प्रतिवार ही आपके जाते समय विद्यार्थी आपको अभिनन्दन–पत्र देने की योजना बनाते थे। पर प्रतिवार ही आप यह कहकर इस रस्म को अस्वीकार कर देते थे कि नकली अभिनन्दन पत्र मुझे नहीं चाहिए, प्रत्येक कुलवासी अपने हृदय में मेरे प्रति जो भाव रखता है वही सच्चा अभिनन्दन–पत्र है। अनेक वर्ष गुरुकुल का आचार्यत्व करके सन् १९४२ के अगस्त मास में स्थिर रूप से आपने गुरुकुल छोड़ दिया।

आपके आचार्यत्व में गुरुकुल ने पर्याप्त उन्नति की । ब्रह्मचारियों के सम्मुख आपका जीवन आदर्श का कार्य करता था। गुरुकुल का आचार्य रहते हुए उस समय नियमानुसार कम से कम १५० रु. मासिक वेतन लेने के अधिकारी तो आप थे ही। तो भी त्यागवृत्ति से आप निर्वाहमात्र केवल २५ रु. मासिक लेते रहे, और संन्यासी होने के पश्चात् तो आपने वह भी लेना छोड़ दिया था। गुरुकुल में रहते हुए गांधी जी द्वारा प्रवर्तित गतिविधियों में भी आप भाग लेते रहते थे। कई वर्षों तक समीपस्थ गांधीआश्रम के संचालक रहे। सेठ जमनालाल बजाज से दान लेकर आपने गुरुकुल में गांधी अर्थशास्त्र की गद्दी स्थापित की थी। विद्यालय में पढ़ाई के साथ सूत कातने का भी एक घंटा आपने रखवाया था। सब ब्रह्मचारियों को खद्दर के ही वस्त्र दिये जाया करें, यह नियम भी आपने ही चलाया था। गुरुकुल से स्थायी रूप से मुक्त होने के अनन्तर आपने पूर्णत: अपने आपको श्रीअरविन्द के अर्पण कर दिया। आपका अधिक समय पांडिचेरी में ही व्यतीत होने लगा। बाद में आपने–अपने मूल निवास स्थान चरथावल में श्रीअरविन्द–निकेतन की भी स्थापना की। ९ जनवरी १९७० को रात्रि को दो बजे के लगभग ७५ वर्ष की आयु में आपने चिर–विश्रान्ति पा ली। गुरुकुल के इतिहास में आपका नाम अमर रहेगा।

डॉ. रामनाथ वेदालंकार
(पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
वेद–मन्दिर, ज्वालापुर, हरिद्वार

वेदेषु राष्ट्र परिकल्पना

वेदेषु राष्ट्र शब्दस्य प्रयोग: बहुधा प्राप्यते। राष्ट्रस्य संरक्षणं, संवर्धनं, परिपालनादिकं च विस्तरश: वर्ण्यते। राष्ट्रस्य किं स्वरूपम्? इति चिन्तितं चेत्, वेदेषु राज्यसीमान्तर्गत: भूभाग: राष्ट्र शब्दात् अभिप्रेतम् आसीत्। यथा च ऋग्वेदादिषु राष्ट्र शब्दस्य प्रयोग: प्राप्यते।

राष्ट्रं क्षत्रियस्य। ऋग्. ४.४२.१

राजा राष्ट्रानाम्। ऋग्. ७.३४.११

तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य। ऋग्. १०.१०९.३

'राजा राष्ट्रानाम्' इतिवर्णनेन ज्ञायते यत् नृप: न केवलं एकस्यैव भूभागस्य अधिपतिरासीत् अपितु अनेक भूभागानाम् अपि स: अधिपति भवति स्म। अथर्ववेदे राष्ट्राणि इति प्रयोगेण ज्ञायते यत् अनेक राष्ट्राणां स्थितिरासीत्।

त्वमिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि।। अथर्व. १९.३०.३

कीदृशं राष्ट्रम् आदर्शरूपमासीत् इति विषये अथर्ववेदादिषु वर्णनं प्राप्यते यत् आदर्श राष्ट्रे ऐतेषां तत्त्वानां सत्ता आवश्यकमासीत्। धनधानस्य समृद्धि: स्यात्, जलस्य तादृशी आपूर्ति स्यात् यथा कृष्यादीनाम् अपि सेचनं सुविधास्यात्। दैनिक उपयोगार्थं काष्ठादिकस्य सुविधा स्यात्। पशुपक्षिणां कृते खाद्यस्य, पेय जलस्य च व्यवस्था भवेत्। विविध रत्न सुवर्णादीनां खनिजा: उपलब्धा: स्यु:। यथासमयं जलवृष्टि: स्यात्। यातायातस्य सुविधा: स्यु:। हिमाच्छादिता: गिरय: वनानि च स्यु:।

यस्यामन्नं व्रीहियवौयस्या इमा: पञ्चकृष्टय:। अथर्व. १२.१.४२

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यांमन्नं कृष्टय: संवभूवु:। अथर्व. १२.१.३

नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी
न: प्रथतां राध्यतां न:।। अथर्व. १२.१.२

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्च: पृथिवी नो दधातु।। अथर्व. १२.१.५

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं
पृथिवी ददातु में।। अथर्व. १२.१.४४

वर्षेण भूमि: पृथिवी वृतावृता
सा नो दधातु भद्रया प्रिय धामनि धामनि।। अथर्व. १२.१.५२

ऋग्वेदेऽपि राष्ट्रस्य कतिपया: आवश्यकता वर्ण्यन्ते। आमोद प्रमोदस्य व्यवस्था भवेत्।

यथाजनानां कामना: तृप्ता: भवेयु:। सर्वाणि आवश्यकानि वस्तूनि उपलब्धानि भवेयु:। यत्र स्वेच्छानुसारं गमनं संभवेत्। प्रकाशस्यापि पूर्णा व्यवस्था भवेत्।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च, मुद: प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ता: कामा:, तत्र माममृतं कृधि।। ऋ. ९.११३.११
यत्र कामा निकामाश्च, स्वधा च यत्र तृप्तिश्च।। ऋ.९.११३.१०
यत्र ज्योतिराजस्रम। यत्रानुकामं चरणम्। ऋ. ९.११३.७,८

यजुर्वेदे आदर्शराष्ट्रस्य प्रमुखगुणानां उल्लेख: प्राप्यते। ब्राह्मणा: ब्रह्मवर्चस्विन: भवेयु:। क्षत्रिया: वीरा: धनुर्धरा: महारथाश्च स्यु:। गाव: दुग्धवा:, वृषभा: भारवाहका:, अश्वा: द्रुतगामिनश्च भवेयु:। नार्य: कुल व्रतपालका:, युवान: सभ्याश्च भवेयु:। यथा कालं पर्जन्य: वर्षेत्। राष्ट्रे योगक्षेम व्यवस्था स्यात्।

आ ब्रह्मन ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्य: शूरइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशु: सप्ति: पुरन्धि=र्योषा जिष्णू।
रथेष्ठा: सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे–निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधय:
पच्यन्ताम् योगक्षेमो न: कल्पताम्।। यजु. २२.२२

वेदेषु राज्यस्य आवयविक स्वरूपस्य वर्णनं प्राप्यते। यजुर्वेदे राज्यस्य कल्पना विराट् पुरुषरूपेण प्रस्तूयते। तत्र राज्यस्य विविध अङ्गानि पुरुषस्य अङ्गरूपेण वर्ण्यन्ते। मंत्रे कथ्यते यत् राष्ट्रमेतत् मम पृष्ठं वर्तते। प्रजा मम ग्रीवा–स्कन्ध: कटि: जङ्घा जानुरूपेण वर्तन्ते। कोष: मम शिरोभाग: अस्ति। यश: मम मुखम्। तेजस्विता मम केशरूपेण वर्तते। राजा मम प्राणरूप: अस्ति। मित्र बलं मम सहायकम् अङ्गम् अस्ति। बलं मम बाहू:। पुरुषार्थ: मम हस्तौ। क्षात्र धर्म: मम आत्मा।

ज्ञान विज्ञानं मम नाभि:। धर्म: मम पादौस्त:। एतेषु मंत्रेषु राज्यस्य आवयविक स्वरूपस्य विशदं वर्णनं प्राप्यते।

शिरो में श्रीर्यशो मुखं त्विषि: केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणोऽमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्।।
मोदा: प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सह।
बाहू मे बलमिन्द्रिय हस्तौ मे कर्म वीर्यम्आत्मा
क्षत्रमुरो मम।
नाभिर्मे चितं विज्ञानम्, पदभ्यां धर्मोऽस्मि।। यजु. २०.५–९

प्राचीन राजनीतिक व्यवस्थायां ग्राम: क्षुद्रतमा संस्था आसीत्। ग्रामणी ग्राम प्रमुख: अभवत्। राज्ञ: निर्वाचनेऽपि भागम् अभजत्। अतएव स राजकृत् अपि उच्यते।

यो राजानो राजकृत: सूता ग्रामण्यश्च ये। अ. ३.५.७

अनेक ग्रामाणां समूह: विश उच्यते स्म। विशपति: पुराणां पालक: पिता च उच्यते।

अत्रा वो विश्पति: पिता पुराणाम्। ऋ. १०.१३५.१

विशां समूह: जन: उच्यते स्म। राजा जनानां सर्वोच्च: शासक: अभूत्। ऋग्वेदे अथर्ववेदे च विंशति जन राज्यानां उल्लेख: लभ्यते।

त्वमेतान् जनराज्ञो द्विर्दश: बन्धुना सुश्रवसोपजग्मुष:। अथर्व. २०.२१.९, ऋग्वेद १.५३.९

अनेक जनपदानां सम्मिलितं रूपं राष्ट्रम् अभवत्।

आ त्वा गन् राष्ट्रं सहवर्चसोदिहि

प्राङ्विशांपतिरेकराट् त्वं वि राज। अथर्व. ३.४.१

यजुर्वेदे राष्ट्रस्य आदर्श: प्रस्तूयते यत तत्र गुणत्रयाणां सत्ता अनिवार्या विद्यते— स्वराजस्थ, जनमृतस्थ, विश्वभृतस्थ च। प्रथम: गुण: राष्ट्रं स्वतंत्रं स्यात्। द्वितीयो गुण: जन संरक्षक: जनहितकारी च भवेत्। तृतीयो गुण: विश्वकल्याणं कुर्यात्। एवं स्वराजस्य प्राप्ति:, जनहित चिन्तनम्, विश्वकल्याणं च राष्ट्रस्य प्रमुखं कर्तव्यम्।

स्वराजस्थ, जनभृतस्थ, विश्वभृतस्य राष्ट्र दा

राष्ट्रं मे दत्त। यजु. १०.४

अथर्ववेदस्य एकस्मिन् मंत्रे राष्ट्रस्य उन्नत्यै गुणद्वयस्य अनिवार्यत्वं वर्ण्यते। गुण द्वयमस्ति— तप: दीक्षा च। तप: शब्देन अनुशासनम् अभीष्टमस्ति। दीक्षा शब्देन समर्पणस्य उल्लेख: क्रियते। यदि राष्ट्रे अनुशासनं, लोकहिताय, आत्मसमर्पण च क्रियते। तर्हि तदेव राष्ट्रं उन्नतिं लभते—

भद्रमिच्छन्त ऋषय: स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तस्मै देवा उपसंनमन्तु।।

अथर्व. १९.४१.१

अथर्ववेदे वर्ण्यते यत् एते गुणा: पृथिवीं धारयन्ति। एतेषां गुणानां सत्त्या एव राष्ट्रं सुदृढं भवति। एते गुणा: सन्ति—सत्यं बृहत् अर्थात् सत्यस्य आश्रयणंम्, ऋतमुग्रं: अर्थात् प्राकृतिक नियमानां पालनम्, दीक्षा अर्थात् समर्पणनं, भावेन राज्योन्नति करणम्, तप: अर्थात् अनुशासनपालनं, ब्रह्म अर्थात् जनेषु आस्तिकताबुद्धि:, यज्ञ: अर्थात् जीवनस्य लोकोपकारित्वम्।एते षड्गुणा: पृथिव्या: रक्षका: सन्ति।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ: पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व. १२.१.१

राष्ट्रस्य उत्थानाय राज्ञ: कर्तव्यं यजुर्वेदे वर्ण्यते। राज्याभिषेक समये यानि कर्तव्यानि प्रतिज्ञा रूपेण निर्दिश्यन्ते तत्र राज्ञ: कर्तव्यं वर्ण्यते यत् स कृषे: उन्नतिं कुर्यात्, जनकल्याणं कुर्यात् राष्ट्रस्य

समृद्धिं वर्धयेत्, राष्ट्रं च सर्वथा सुपुष्टं कुर्यात्–

कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यैत्वा, पोषाय त्वा।। यजु. ९.२२

अथर्ववेदे वर्ण्यते यत् राजा राष्ट्रं सुदृढं कुर्यात् सौभाग्यं च वर्धयेत्। राष्ट्र पुष्ट्या सहैव आर्थिकम् अभ्युदयं च कुर्यात्–

इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभागाय। अथर्व. ७.३५.१

राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह। अथर्व. १३.१.३४

यजुर्वेदे राज्य व्यवस्था विषये उल्लिख्यते यत्, ये अत्याचरिण: दुर्वृत्ता: च सन्ति, तान् कठोरेण दण्डेन वशं नयेत्। ये मित्रभूता: सन्ति तै: सह सद्व्यवहारं कुर्यात्। ये आततायिन: अनुशासनहीना: च सन्ति, तान् कठोरेण दण्डेन वशं नयेत्।

उग्रं लोहितेन मित्रं सौव्रत्येन, रुद्रं दौर्व्रत्येन। यजु. ३९.९

वेदेषु राष्ट्रसंचालनार्थं सभा समिति: च द्वे संस्थे आसताम्। सभा ग्रामसभारूपेण आसीत्। ग्रामणी च एतस्या अध्यक्ष: अभवत्। एतस्या: कर्तव्यमासीत् ग्रामस्योन्नति, ग्रामस्य संरक्षण, ग्रामीण विवादाना समाधान तथा न्याय संस्था रूपेण सर्वेषामपि ग्राम सम्बन्धी विषयानां व्यवस्था करणम्। समितिश्च वृहत्तरा संस्था आसीत्। सा केन्द्रीय लोकसभा रूपेण व्यवहरत। एतस्या: कर्तव्यमासीत् राज्ञ: निर्वाचनम्, राज्य केन्द्रीय व्यवस्थाकरणं, सन्धि–विग्रहो, सर्वोऽपि राष्ट्रीय व्यवस्था च। एवं सभासमितिश्च राज्ञ: अधीनस्थे द्वे संस्थे आसताम्। अतएव ते राज्ञ: पुत्र्यौ उच्यते–

सभा च मा समितिश्चावतां, प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। अथर्व ७.१२.१

ऋग्वेदे संज्ञान सूक्ते राष्ट्रे संगठनस्य महती आवश्यकता वर्ण्यते। तत्र उच्यते यत् जनेषु सौमनस्य स्यात्। लक्ष्यस्य एकत्व स्यात्। जनेषु प्रेमभावना सद्भावना च स्यात्। जना: पारस्परिक विवाद त्यक्त्वा। राष्ट्रस्य उन्नत्यै सर्वथा संलग्ना: स्यु:।

संगच्छध्वं सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्र: समिति: समानी, समानं मन: सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये व:, समानेन वो हविषा जुहोमि।।

ऋग्. १०.१९१.२–३

एव वेदेषु राष्ट्रस्य वर्णनं विस्तरश: प्राप्यते। वेदेषु राष्ट्रस्य कर्तव्यानि, राष्ट्रस्य समृद्धि, राष्ट्रस्य विकासाय च कर्तव्यानि उपदिश्यन्ते।

डॉ. भारतेन्दु द्विवेदी
प्रवक्ता, संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
हमीरपुर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातकों की "संस्कृत-साहित्य" सेवा

संस्कृत भाषा विविध विद्याओं का स्रोत है। यह प्रसन्नता का विषय है कि वर्तमान प्रशासन, संस्थाएं और विद्वन्मण्डल संस्कृत के उत्थान के लिए कुछ अंश तक प्रयत्नशील हैं। विद्वज्जन संस्कृत भाषा में नाटक, महाकाव्य, गद्यकाव्य आदि की रचना कर रहे हैं। प्राचीन काव्यग्रन्थों के अनुवाद, व्याख्यान, शोध, आलोचना आदि भी हो रहे हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातकों ने भी संस्कृत के विकास और उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

मौलिक रचनाएं

गुरुकुल के प्रथम स्नातक पंडित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार की 'संस्कृत प्रवेशिका' छोटी कक्षाओं में पढ़ाने के लिए इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि इसके १७ संस्करण प्रकाशित हो चुके है। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति को संस्कृत के प्रति अत्यधिक अनुराग था और उन्हें संस्कृत के विकास की चिन्ता सदा रहती थी। छात्रावस्था से ही आपको संस्कृत में कविता करने का शौक था। वे जीवन के अन्तिम दिनों में महाभारत के ढंग पर संस्कृत में 'भारतैतिह्यम्' नाम से भारत का सम्पूर्ण इतिहास महाकाव्य के रूप में लिखना चाहते थे, परन्तु केवल ३१ अध्याय ही लिख पाए, जो पहले 'गुरुकुल पत्रिका' में क्रमशः छपे और बाद में पाठकों की मांग पर पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हुए।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड (स्वामी धर्मानन्द सरस्वती) ने 'महापुरुषकीर्तनम्' और 'महिलामणिकीर्तनम्' नामक काव्यों का प्रणयन किया है। इन दोनों रचनाओं पर उत्तरप्रदेश सरकार ने आपको पुरस्कार देकर सम्मानित किया था। पं. बुद्धदेव विद्यालंकार की 'आनन्दषट्पदी', 'भक्तिलहरी', 'कुलाद्वियुक्तस्य वियोगवार्ता' आदि काव्यरचनाएं अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष स्व. वागीश्वर विद्यालंकार कृत 'साहित्यसुधासंग्रह', 'छात्रकौतकम्', 'विदूषकपरिषद्' एवं 'वैदिक साहित्य सौदामिनी' संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि हैं। श्री हरिवंश वेदालंकार कोचर की 'वैताल पंचविंशति' उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है। श्री जनमेजय विद्यालंकार ने 'अभिनवकाव्यम्' नामक काव्य की रचना की, जिस पर उन्हें उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत किया। श्री भगवद्दत्त वेदालंकार कृत 'वैदिकस्वप्नविज्ञानम्' भी उत्तर प्रदेश शासन से पुरस्कृत हो चुकी है। श्री मदनगोपाल विद्यालंकार की 'चारूचरितावलि', श्री जगन्नाथ वेदालंकार रचित 'संस्कृत कथा मंजरी', 'मातृसूक्ति-मुक्तावलि' और 'ज्योतिषां ज्योतिः', श्री आनन्दवर्धन विद्यालंकार की 'संवादम[illegible] 'कुसुमलक्ष्मीः' की पाठकों द्वारा मुक्तकंठ से प्रशंसा हुई है। 'कुसुमलक्ष्मीः' उ.प्र. सरकार के [illegible] झा पुरस्कार से पुरस्कृत भी हुई है। प्रो. कृष्णकुमार आयुर्वेदालंकार डी. लिट्. ने 'उदयनचरितम्' 'तपोवनवासिनी' और 'विधिपौरुषम्' नामक संस्कृत उपन्यासों की तथा 'अस्ति—कश्चिद्—वागर्थीयम्'

नामक संस्कृत नाटक की मौलिक काव्यरचना की है। श्री वासुदेव चैतन्य आयुर्वेदालंकार ने 'चैतन्य नीतिशतकम्' नाम से ७०० संस्कृत श्लोकों की रचना की है, जो गुरुकुल पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित हुए है। डॉ. सत्यदेव शर्मा निगमालंकार ने 'देवस्य पश्य काव्यम्' नामक रमणीय खण्डकाव्य की रचना की है, जो गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त अनुदान राशि से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।

देशबन्धु कॉलेज दिल्ली में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. मनोहरलाल विद्यालंकार ने संस्कृत में कई छात्रोपयोगी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'संस्कृतमंजरी', 'संस्कृतगौरवम्', 'संस्कृतगद्यमंजरी', 'संस्कृतसुषमा' प्रमुख हैं। डी.ए.वी. कॉलेज अम्बाला शहर के संस्कृतविभागाध्यक्ष प्रो. वेदप्रकाश वेदालंकार ने 'आदिकविः वाल्मीकिः' एवं 'अलंकार संस्कृत निबन्धमाला' की रचना की है, जिनमें से प्रथम हरियाणा सरकार के भाषा विभाग द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है। राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. सुभाषचन्द्र तनेजा वेदालंकार ने भी अनेक संस्कृत ग्रन्थ रचे हैं। उनका शोध प्रबन्ध 'कल्हणस्य राजतरङ्गिण्यां चित्रिता भारतीयसंस्कृतिः' विद्वत्समाज में विशेष आदृत हुआ है। उन्होंने संस्कृत गीतकार के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त की है। उनकी विभिन्न रचनाओं में पांच सौ से अधिक गीत प्रकाशित हो चुके हैं। संस्कृतदेशभक्तिगीतम्, भारतगौरवम्, ईशस्तोत्रम्, दक्षिणावर्तविलासम्, संस्कृतगीताञ्जलिः, वैदिकसंस्कृतिपीयूषम् आदि उनकी पद्य-रचनाएं है। उनकी संस्कृत सेवा के उपलक्ष्य में विद्वन्मण्डल तथा उनके शिष्यगण निकट भविष्य में अभिनन्दन–पत्रिका द्वारा उनका अभिनन्दन कर रहे हैं।

संस्कृत भाषा में पुस्तक निर्माण के अलावा, अनेक स्नातक संस्कृत की पत्र–पत्रिकाओं के लिए विभिन्न विषयों पर शोधपूर्ण सुन्दर लेख व श्लोक आदि भी लिखते रहते हैं, जिनकी सर्वत्र सराहना होती है। इस सन्दर्भ में डॉ. रामनाथ वेदालंकार, डॉ. रघुवीर वेदालंकार, डॉ. रामप्रताप वेदालंकार, प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, डॉ. महावीर अग्रवाल, डॉ. सत्यकाम विद्यालंकार, डॉ. विक्रम कुमार विवेकी, डॉ. मनुदेव बन्धु, डॉ. सत्यदेव निगमालंकार आदि ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

अनुवाद एवं टीकाएं

संस्कृत को जनसामान्य में लोकप्रिय बनाने तथा छात्रों के लिए संस्कृत के अध्ययन को सरल बनाने की दृष्टि से अनेक स्नातकों ने संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवियों के दुरूह ग्रंथों के भावानुवाद, अनुवाद एवं टीकाएं भी तैयार की है। इसका परिणाम यह है कि अब संस्कृत को न जानने वाले भी इनका रसास्वादन सरलता से कर सकते हैं।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा 'रघुवंश' व 'किरातार्जुनीयम्' का हिन्दी अनुवाद इस दिशा में प्रथम चरण था। इसके बाद श्री वागीश्वर विद्यालंकार ने 'कुन्दमाला' एवं 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किए। श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने 'पंचतंत्र' व 'मेघदूत' का, श्री निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार ने 'वेणीसंहार' तथा 'दशकुमारचरित' का, श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार ने 'वाल्मीकिरामायण'

का, श्री इन्द्रसेन विद्यालंकार ने 'उत्तररामचरित' का, श्री उदयवीर 'विराज' वेदालंकार ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'कुमारसंभव', 'विक्रमोर्वशीय' एव 'मालविकाग्निमित्र' का, डॉ. कृष्ण कुमार ने 'मेघदूत' एवं 'चौरपञ्चाशिका' का तथा श्री प्रताप विद्यालंकार ने 'मेघदूत' व 'ऋतुसंहार' का हिन्दी रूपान्तर इतनी सुबोध एवं प्रांजल भाषा में किया है कि पाठकों का मन अनायास ही उसकी ओर बार–बार आकृष्ट हो जाता है और उन्हें पढ़ने के बाद उनमें एक विशेष आनन्द की अनुभूति होती है।

स्नातकों द्वारा तैयार की गई संस्कृत–ग्रन्थों की छात्रोपयोगी टीकाएं बाजार में बिकने वाली अन्य सामान्य टीकाओं और कुंजियों की तरह की नहीं है, बल्कि वे इतने अच्छे ढंग से लिखी गई हैं कि उनमें टीकाकार या अनुवादक की योग्यता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध मेरठ कालेज के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. निरूपण विद्यालंकार ने संस्कृत साहित्य के कई ग्रन्थों की टीकाएं की है, जिनमें 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मुद्राराक्षस', 'साहित्यदर्पण' और 'काव्यदीपिका' प्रमुख हैं। इन टीकाओं में कवि–परिचय, कला–परिचय, नाटक की विशेषताओं का विस्तृत विवरण तथा मूल पाठ का अर्थ व भाव तो दिया ही गया है, साथ ही गद्य या पद्य में आए विशेषणों का सार्थक्य निरूपण भी किया गया है, जो अन्य टीकाओं में देखने को कम मिलता है। यही कारण है कि इनकी टीकाएं विद्वन्मण्डली एवं छात्रों में बहुत अधिक पसन्द की जाती है।

गढ़वाल विश्वविद्यालय के अंगभूत राजकीय डिग्री कालेज श्रीनगर के पूर्व संस्कृत-विभागाध्यक्ष डॉ. कृष्णकुमार रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 'प्रियदर्शिका नाटिका', 'प्रतिमा नाटक', 'रघुवंशम्', 'किरातार्जुनीयम्', 'शिवराजविजय', 'कुन्दमाला', 'कुसुमलक्ष्मी' तथा 'हर्षचरितम्' नामक काव्यव्याख्या-ग्रन्थों ने उज्ज्वल ख्याति प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त आपने 'अलकार शास्त्र का इतिहास', 'ध्वन्यालोकव्याख्या', 'छन्दोऽलङ्कारप्रकाश' तथा 'काव्यशास्त्रविमर्श' ग्रन्थ लिखकर सस्कृत अलंकार-शास्त्र पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है। आपने तीन भागों में संस्कृत पाण्डुलिपियों की ग्रन्थविवरणी तथा चार खण्डों में केदारखण्ड पुराण का सपादन, अनुवाद और विवेचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। इस संस्कृत सेवा के उपलक्ष्य में आप उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ, सस्कृत अकादमी दिल्ली आदि संस्थाओं से ससम्मान पुरस्कृत भी हुए हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने भी इन्हें अपनी मानद उपाधि 'विद्यामार्तण्ड' से अलकृत किया है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के पूर्व प्रोफेसर डॉ. सत्यकाम वर्मा आयुर्वेदालंकार ने 'वाक्य पदीय : ब्रह्मकाड' की त्रिभाषी टीका प्रस्तुत करके इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषाभाषी और अहिन्दी भाषा–भाषी दोनों ही श्रेणी के लोगों के लिए सुगम बना दिया है। श्री धर्मदेव वेदवाचस्पति और प्रो. वेदप्रकाश वेदालंकार ने सम्मिलित रूप से 'चारुदत्तम्', 'हितोपदेश', 'अपरीक्षित कारक', 'रघुवंश' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के पजाब विश्वविद्यालय के लिए पाठ्यक्रमोपयोगी अंशों की सुबोध टीकाएं प्रस्तुत की हैं।

इसके अतिरिक्त प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का 'गीताभाष्य', श्री जयचन्द्र विद्यालंकार कृत 'कुन्दमालानाटिका' की टीका, श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार कृत 'मनुस्मृति' का अनुवाद, डॉ. रामनाथ वेदालंकार रचित सम्पूर्ण सामवेद का 'संस्कृतभाष्य', 'वैदिकशब्दार्थविचार:' तथा 'नलचम्पू' की सटिप्पण हिन्दी–संस्कृत टीका, सत्यभूषण योगी वेदालंकार प्रणीत 'मनुस्मृति' का अनुवाद, डॉ जयपाल विद्यालंकार की 'स्वप्नवासवदत्तम्' और 'किरातार्जुनीयम्' की टीकाए तथा डॉ. रामप्रताप वेदालंकार कृत 'राजेन्द्र कर्णपूर' और 'साहित्यसुधासिन्धु' का अनुवाद सर्वत्र समादृत हुए हैं।

शोधग्रन्थ एवं आलोचना साहित्य

इन टीकाओं और अनूदित ग्रंथों की रचना के अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के अनेक स्नातकों ने संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित विषयों पर उच्चकोटि के शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक ग्रंथ लिखकर भी विद्वन्मण्डली में पर्याप्त ख्याति अर्जित की है।

श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार का 'महर्षि पतंजलि व तत्कालीन भारत', पं. वागीश्वर विद्यालंकार की 'कालिदास की काव्यकला', श्री विद्यासागर वेदालंकार कृत 'सांख्य दर्शन–एक परिचय', 'वेदान्त–एक परिचय', 'चार्वाक दर्शन' (हरजीमल पुरस्कार प्राप्त), पं. कृष्णस्वरूप विद्यालंकार का 'गीता मर्म' एवं 'गीता विज्ञान विवेचन' (पुरस्कृत), श्री सुखदेव दर्शनवाचस्पति का 'पुराणालोचन', डॉ रामनाथ वेदालंकार कृत 'वेदो की वर्णन–शैलियां', 'वेदभाष्यकारों की वेदार्थप्रक्रियाए' आदि ग्रन्थ, प्रो हरिदत्त वेदालंकार की 'कालिदास के पक्षी' (उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत) और 'हिन्दूपरिवार मीमांसा', डॉ. कृष्णकुमार आयुर्वेदालंकार के 'वैदिक साहित्य का इतिहास', 'अम्बिकादत्त व्यास : एक अध्ययन', 'प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास', 'भारतीय संस्कृति के आधार तत्त्व', 'गढवाल के प्राचीन अभिलेख और उनका ऐतिहासिक महत्त्व', 'प्राचीन भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थायें', 'संस्कृत नाटकों का भौगोलिक परिवेश' आदि ग्रन्थ, डॉ. निरूपण विद्यालंकार का 'प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र साहित्य में शूद्रों की स्थिति' (उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत), डॉ. सत्यकाम वर्मा आयुर्वेदालंकार के 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय', 'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका', 'संस्कृत व्याकरण का उद्‌भव एवं विकास' और 'भर्तृहरि: शब्द और अर्थ', डॉ. देवेन्द्र कुमार विद्यालंकार कृत 'संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद', डॉ. विनोदचन्द्र विद्यालंकार रचित 'जयदेव : आचार्य और नाटककार के रूप में आलोचनात्मक अध्ययन' तथा प्रो. महावीर अग्रवाल कृत 'वाल्मीकि रामायण में रसविमर्श' एव 'वेदों मे अर्थशास्त्र' आदि ग्रंथ इसी श्रेणी में आते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरुकुल के स्नातकों ने संस्कृत–साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है और आगे आने वाली पीढ़ी भी इसे अधिक समृद्ध बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

डॉ. विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार
४६२, देवलोक, आर्यनगर,
ज्वालापुर (हरिद्वार)

गीता में यज्ञ का वैज्ञानिक स्वरूप

यज्ञ शब्द यज् धातु से बना है। यज् धातु के तीन अर्थ किये जाते है– देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान। पूजा का सम्बन्ध मनोमय कारण शरीर से है, सङ्गतिकरण का सम्बन्ध प्राणमय सूक्ष्म शरीर से है तथा दान का सम्बन्ध वाङ्मय स्थूल शरीर से है। कारण शरीर से की जाने वाली पूजा ज्ञान से जुड़ी है, सूक्ष्म शरीर से किए जाने वाला सङ्गतिकरण उपासना से जुड़ा है तथा स्थूल शरीर से किया जाने वाला दान कर्म से जुड़ा हुआ है। ज्ञान अमृत यज्ञ है, उपासना देवयज्ञ है तथा कर्म शुक्र यज्ञ है। मनुष्य कर्मरूप शुक्रयज्ञ को तो मुख्य बना लेता है और ज्ञानरूप अमृतयज्ञ तथा उपासना रूप देवयज्ञ को गौण कर देता है। यही प्रज्ञापराध है। इसी प्रज्ञापराध को हम बोलचाल की भाषा में भौतिकवाद अथवा मैटिरियलिज्म कहते हैं।

देवयज्ञ इस भौतिकवाद से बचने का उपाय है। देवयज्ञ में हम किसी द्रव्य की आहुति देते है। इस द्रव्य के दो भाग होते हैं—भूत एवं प्राण। उस आहुति द्रव्य का प्राण भाग यज्ञमान के प्राणों को देवों के प्राणों से जोड़ देता है। यहीं से मनुष्य आत्मा का दैवात्मा का रूप बन जाता है। यही अमृतत्व है, यही ज्योति है, यही देवत्व है अपाम सोमममृता अन्भूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान् आहुति द्रव्य यजमान का वित्त है और वित्त भी उसकी ही है—यावद्वित्तं तावदात्मा। यजमान आहुतिद्रव्य के माध्यम से अपनी आत्मा ही देवों को अर्पित करता है। यही देवों को यज्ञ द्वारा भावित करना है जिसके बदले में देव हमें भावित करते है जो कि हमारे परमकल्याण का साधन बनता है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेय परमवाप्स्थ।।[1]

देवताओं को आत्मार्पण किए बिना भावित नहीं किया जा सकता। जो पुरोडाशादि पदार्थ हम देवों को देते है, देवगण उन पदार्थों को खाते नहीं हैं। देव न खाते है, न पीते है, वे तो केवल हमारे अमृत भाव को देखकर ही तृप्त हो जाते है—

न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।

यह अमृतभाव क्या है? अमृत का अर्थ है कि हमारी समस्त सम्पदा और हमारे सारे कर्म सर्वजनसुखाय, सर्वजनहिताय हो, व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिएं नहीं। सभी सम्पदा विनश्वर है और सभी कर्म शान्त फल देने वाले हैं किन्तु जब हमारे अर्थ, क्रिया और ज्ञान लोककल्याण के लिए समर्पित हो जाते हैं तो वे अपने शान्तभाव को छोड़कर अनन्तभाव को धारण कर लेते हैं। यही भूमाभाव है, यही अमृतभाव है। जहाँ स्वार्थ है वही त्रैगुण्य है, वही बन्धन है। जहाँ परमार्थ है, वहाँ न त्रैगुण्य है न बन्धन।

पारस्परिक भावित करने का अर्थ है—सहयोग करना। एक दृष्टि प्रतिस्पर्द्धा की है, दूसरी सहयोग करने की। प्रतिस्पर्द्धा का अर्थ है कि हम दूसरे की उन्नति में बाधा डालें। सहयोग का अर्थ है कि हम सबकी उन्नति में साधक बने। जब सब सबकी उन्नति में साधक बनते है तो परम श्रेय की प्राप्ति होती है। व्यक्ति जहाँ भी जाता है, उसे सहयोग मिलता है। इसके विपरीत जहाँ बाधक बनने का भाव है, वहाँ संघर्ष है, फल शून्य है। यदि हम विचार करें तो मनुष्य को प्रकृति ने इतना दिया है कि अभाव का नाम ही नहीं है किन्तु हमने अपनी मूर्खता से प्रकृति के उस वैभव का आनन्द लेने के स्थान पर आपस में ही नहीं, प्रकृति से भी संघर्ष करने में अपनी शक्ति का अपव्यय करना चालू किया हुआ है।

आज विभिन्न राष्ट्रों का कितना अधिक धन संहारक शस्त्रों के निर्माण में लग रहा है क्योंकि हममें परस्पर भावित करने की दृष्टि न होकर एक—दूसरे को नीचा दिखाने का भाव है। यदि इन संहारक शस्त्रों के निर्माण में खर्च होने वाली धन राशि का अर्धांश भी शिक्षा, चिकित्सा तथा पोषण पर खर्च किया जाए तो संसार का नक्शा ही बदल जाए, किन्तु यह तो तब ही होगा जब राष्ट्र परस्पर सहयोग की भावना रखें।

राष्ट्रों में सहयोग की भावना नहीं है अपितु दूसरे राष्ट्रों के प्रति वैमनस्य का भाव रखना देशभक्ति का पर्यायवाची माना जा रहा है। एक वर्ग दूसरे वर्ग को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। व्यापारी अपना घर भरने में ही सारा पुरुषार्थ लगा रहे हैं। यहाँ तक कि लोक कल्याण का लक्ष्य लेकर चलने वाले धर्म—सम्प्रदाय भी परस्पर एक—दूसरे का सहयोग करने के स्थान पर एक—दूसरे के प्रति ईर्ष्याभाव रखकर अन्दर ही अन्दर एक दूसरे की काट करने में लगे हुए हैं। फलस्वरूप धर्म—स्थान भी राजनीति के अखाड़े बन गये हैं। कहीं भी वह यज्ञीय भावना नहीं है कि यह मेरा नहीं है, प्राकृतिक शक्तियों का है, देवों का है—इदं अमुक देवाय इदन्न मम। जरा विचार करें कि क्या इस सृष्टि में एक परमाणु भी हम उत्पन्न कर सकते हैं? समस्त सम्पदा हमें प्रकृति से ही ता प्राप्त हो रही है। जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य इन सबमें से हमने किसे पैदा किया है कि हम उसे अपना कह सकें? सारा कच्चा माल हमें प्रकृति से मिलता है, फिर उसे हम अपना कहने का दावा कैसे कर सकते हैं? हम तो केवल कच्चे माल को एक रूप देने मात्र का काम करते हैं। कच्चा माल तो सब देवों का ही है, हम उसे निर्मित उत्पाद का रूप मात्र दे देते हैं। इस बात को समझ कर यदि हम प्रकृति की शक्तियों के प्रति कृतज्ञता का भाव रख सकें तो वे शक्तियाँ भी अवश्य ही हमें इष्ट भोग देंगी। किन्तु क्या प्रकृति का देव ऋण चुकाएं बिना हम प्रकृति की सम्पदा का भोग करेंगे तो यह चोरी न होगी?

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता:।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यः यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।[2]

प्रकृति की व्यवस्था है कि हमारी आवश्यकता की पूर्ति के लिए यज्ञशेष हमें प्राप्त होता रहता है। सूर्य कितनी ऊर्जा निरन्तर हमें दे रहा है? वृक्ष कितनी ऑक्सीजन फेंक रहे है? पृथ्वी कितनी

शस्यश्यामला है? नदियाँ कितना अमृत–जल प्रवाहित कर रही है? यह सब यज्ञशिष्ट है, जो इसे भोगता है वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। किसी नदी के किनारे आप प्रात:काल घूमने चले जाएं। शीतल मन्द समीर आपका स्वागत करेगी। वृक्षों पर बैठे पक्षी संगीत से आपका मन तृप्त कर देंगे। यह सब प्रकृति का नि:शुल्क बंटने वाला अवदान है। किन्तु हम किसी को क्या दे रहे है? केवल अपने लिए कमाते है, अपने लिए पकाते हैं और स्वयं ही अपना पेट भर लेने में अपनी कृतकृत्यता मान लेते हैं। गीता कहती है कि यह तो साक्षात् पाप का खाना ही हुआ–

यज्ञशिष्टाशिन: सन्त: मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै:
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।[3]

वेद तो इससे भी अधिक कठोर शब्दों में कहता है कि ऐसा ना समझ जो अन्न को न देवों को देता है, न मित्रों को और अकेला ही समस्त सम्पदा को भोगता है वह पाप को तो खाता ही है, साथ ही ऐसी सम्पदा उस व्यक्ति का वध भी कर डालती है–

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता: सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।[4]

अर्जुन युद्ध करे, समाज को दुर्योधन के अन्यायपूर्ण राज्य से मुक्ति दिलाने के लिए यह यज्ञ हुआ। इस यज्ञ का इच्छित राज्य उसे प्राप्त होगा। उस यज्ञ–शेष को भोगने में उसे कोई पाप लगने वाला नहीं है, किन्तु यदि वह राज्य के लोभ से युद्ध करता है तो वस्तुत: वह पाप का भागी होगा। साथ ही वह यह राज्य अकेला भोगने वाला नहीं है अपितु अपने पांचों भाईयों के साथ मिलकर भोगेगा।

संसार में यज्ञ का एक चक्र है। इस चक्र के सात स्तर है– अक्षर से ब्रह्म उत्पन्न होता है। ब्रह्म से कर्म उत्पन्न होता है। कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है। यज्ञ से बादल उत्पन्न होता है। बादल से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से सृष्टि का पालन होता है। जीव–जन्तु , पेड़–पौधों का भी संरक्षण होता है। इन यज्ञ–चक्रों पर थोड़ा विस्तार से विचार करना आवश्यक है। वैसे तो अन्न सात है– ज्ञान, कर्म, आकाश, जल, तेज, वायु और औषधि–वनस्पति, किन्तु इनमें औषधि–वनस्पति ही मुख्य अन्न है–यह बात प्रसिद्ध है। इसी अन्न से शरीर में शुक्र बनता है और वह शुक्र ही प्रजोत्पत्ति का हेतु है। यह एक यज्ञचक्र है। बादल(पर्जन्य) से औषधि–वनस्पति रूप अन्न की उत्पत्ति तो प्रत्यक्ष गोचर ही है। ऋतु रूप संवत्सर यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति भी प्रसिद्ध ही है। ऋताग्नि में ऋत सोम की आहुति से जो ऋतुयज्ञ होता है वही बादल को बनाता है।

इसी संवत्सर यज्ञ के अनुकरण पर श्रौत यज्ञ होते हैं। इन श्रौत यज्ञों में चार कर्म होते हैं जिनसे यज्ञ सम्पन्न होता है। वे चार कर्म होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न होते हैं। हम कोई भी काम करें उसमें ये चार कर्म करने ही पड़ते हैं।

बादल को उत्पन्न करने वाला जो संवत्सर यज्ञ है उसमें अग्नि होता बनता है, वायु अध्वर्यु, आदित्य उद्गाता, और बृहस्पति ब्रह्मा। तब जाकर वह ऋतु–यज्ञ सम्पन्न होता है जिससे

पर्जन्य बनता है और वृष्टि करता है।

यह यज्ञ कर्म ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं। होता अपना कर्म ऋग्वेद से, अध्वर्यु यजुर्वेद से, उद्गाता सामवेद से तथा ब्रह्मा अथर्ववेद से सम्पन्न करता है। यहां वेद वे तत्त्व हैं—जो पदार्थ का निर्माण करते हैं। ऋक् से पदार्थ का मूर्त्त अंश बनता है, यजु से गति आती है, साम से उसका तेजोमण्डल बनता है तथा अथर्ववेद उस पदार्थ को सर्वाङ्गीण बनाता है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वतेजः सामरुप्यं ह शश्वत्, सर्वहेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।।

जिन वेदों से हम परिचित है, वे वेद ग्रन्थ है। उन ग्रन्थों में ऋक्. आदि तत्त्वों का निरूपण है। अतः उन्हें ऋग्वेद आदि नामों से कह दिया जाता है जिस प्रकार वनस्पति का वर्णन करने वाले ग्रन्थ का नाम 'वनस्पति विज्ञान' रख दिया जाता है।

एक यज्ञ चक्र वह है जिससे अक्षर तत्त्व से क्षर. वेद तत्त्व उत्पन्न होता है। ऋक्. आदि को अपरा विद्या और अक्षर विद्या को पराविद्या कहा जाता है—अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। अक्षर की पांच कला है—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। इनमें से अग्नि में सोम की आहुति पड़ने से जो यज्ञ होता है, उसी से ऋगादि उत्पन्न होते है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्य जुस्तस्मादजायत।।[5]

ये वेद ही कर्म का मूल है। कर्म से ही क्रमशः यज्ञ, पर्जन्य, वृष्टि, अन्न तथा भूतों की उत्पत्ति होती है। यही सृष्टि का क्रम है। इस यज्ञ कर्म के बिना ब्रह्म प्राप्ति सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म यज्ञ द्वारा ही संसार में ओत–प्रोत हुआ है। जो इस यज्ञ–चक्र की अवहेलना करता है वह ब्रह्म की प्राप्ति तो क्या कर पायेगा, वह तो वस्तुतः सांसारिक वैभव से भी वंचित हो जाता है। उसका पापपूर्ण जीवन व्यर्थ ही है।

डॉ. किशनाराम बिश्नोई
प्रभारी
गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान
गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय,
हिसार–१२५००१

सन्दर्भ

१. गीता ३/११
२. गीता ३/१२
३. गीता ३/१३
४. गीता ७/१
५. गीता १३/८

दयानन्द-दर्शन की अवधारणा

मनुष्य जीवन सुख एवं दु:ख, हर्ष तथा विषाद से संयुक्त है। विवेकशील मानव अनादिकाल से ही 'दु:ख'[१] से निवृत्ति का उपाय खोजते रहे हैं। मानव के इसी चिन्तन को दर्शन नाम से अभिहित किया गया है। साथ ही 'दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही पुरुषार्थ'[२] अर्थात् मानव जीवन का चरम उद्देश्य कहा गया है। चार्वाक् आदि मात्र लौकिक सुख की प्राप्ति को ही पुरुषार्थ मानते रहे हैं, किन्तु यह कटु सत्य है कि मात्र भौतिक संसाधनों की उपलब्धता के होते हुए भी व्यक्ति अनेक बार अपने अन्दर कहीं ना कहीं दु:ख की चुभन का अनुभव करता है। यह इस बात का द्योतक है, कि केवल मात्र भौतिक सुख ही पुरुषार्थ नहीं है अपितु ऐहिक एवं आमुष्मिक उभयविध सुख की उपलब्धता ही पुरुषार्थ कहला सकती है। अत: प्राचीन मनीषियों ने इस उभयविध सुख की उपलब्धि हेतु जो चिन्तन किया, वही दर्शन के रूप में अभिहित किया जाता है।

दर्शन की यह परम्परा ब्राह्मण से लेकर उपनिषद् तक अजस्र रूप में प्रवाहित होती रही है। संहिताओं में भी इसका मूल उपलब्ध है। समग्र चिन्तन धारा में सार तत्त्व को सांख्यादि षड्दर्शन के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। यह छहों दर्शन अपनी—अपनी दृष्टि से प्रकृति जीव एवं पुरुष का विश्लेषण करते हैं। पुनरपि विविध टीका प्रटीकाओं के प्रसार एवं प्रभाव के कारण छहों दर्शनों की तो बात ही क्या! एक वेदान्त दर्शन ही अद्वैत एवं द्वैत आदि परस्पर विपरीत विचार धाराओं का उपजीव्य हो गया है। इन्हीं भाष्यों के अंत्यधिक प्रभाव के कारण इनके द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों को 'शंकर', 'निम्बार्क' एवं 'मध्व' आदि दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के महत्तम मनीषियों में अग्रगण्य 'महर्षि दयानन्द सरस्वती' छहों दर्शनों को एक दूसरे का पूरक स्वीकार करते हैं।[३] पुनरपि महर्षि के मन्तव्य पूर्वाचार्यों से पर्याप्त भिन्नता लिए हुए है। इसीलिए महर्षि के इस दार्शनिक चिन्तन को 'दयानन्द दर्शन' नाम प्रदान किया है।

महर्षि का यह चिन्तन न तो कोरी कल्पना है और न ही किसी स्वतंत्र सम्प्रदाय की स्थापना का प्रयास। महर्षि के दार्शनिक चिन्तन की सबसे बड़ी पहचान उसकी वेदमूलकता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार विश्व में तीन अनादि तत्त्व या सत्तायें हैं— (१) ईश्वर, (२) जीव और (३) प्रकृति।

ईश्वर– दर्शन की दृष्टि में प्रथम विवेच्य तत्त्व ईश्वर है। ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता, न्यायकारी तथा साथ ही दयालु भी है। किन्तु वह स्वरूपतः सच्चिदानन्द है।[४] वह निराकार होते हुए भी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। सृष्टि का कर्त्ता है। किन्तु स्वयं अज है।

ऋग्वेद में ईश्वर तत्त्व पर विचार प्राप्त होते हैं। ईश्वर को प्रजापति, हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है। जो उत्पन्न जगत् से पूर्व सबका अधिपति है और उसने आकाश तथा पृथ्वी को धारण किया है[५] और विश्वकर्मा रूप से सम्पूर्ण विश्व का रचयिता माना गया है तथा उस ईश्वर को सर्वत्र दृष्टा एवं अद्वितीय देव कहा गया है।[६] ऋग्वेद के ही पुरुष सूक्त १०/९० में सृष्टि के मूलकारण पुरुष का यथार्थ चित्रण हुआ है।[७] तथा नासदीय सूक्त में भी सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने वाले ईश्वर का वर्णन किया गया है।[८] वहीं परमेश्वर इस जगत् का मूल कारण है। उसी निमित्त कारण से जगत् की उत्पत्ति हुई है उसी को इन्द्र मित्र वरुण अग्नि गरुत्मान् यम और मातरिश्वन् आदि नामों से पुकारा जाता है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निराहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।[९]

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में उसे विश्वकृत और सबका कर्ता कहा गया है और समस्त लोक लोकान्तर उसी के आश्रित है।[१०] एतरेयोपनिषद् में वर्णन है कि सृष्टि रचना के पूर्व वही एकमात्र ईश्वर विराजमान था उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। उसने कामना की और बहुरूप सृष्टि उत्पन्न हो गई।[११] 'छान्दोग्य उपनिषद्' के अनुसार सृष्टि के पूर्व वही एकमात्र अद्वितीय ईश्वर विद्यमान था उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ। अनेक रूपों में सृष्टि को उत्पन्न करूं। तब उसने तेज की सृष्टि उत्पन्न की।[१२]

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप निराकार नित्य ब्रह्म एवं सत्य स्वरूप है। सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में एक सौ नामों की व्याख्या की गयी है ईश्वर के लिए अग्नि शब्द बहुलता से प्रयुक्त हुआ है। ओ३म् यह तो केवल परमात्मा का ही मुख्य नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण प्रकरण और विशेषण का नियम कारक है।[१३] तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में ईश्वर की क्रिया को नित्य माना गया है क्योंकि यदि एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सर्वनियन्ता सबका सृष्टा, सबका धर्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया असंभव है।[१४] वेदों में ईश्वर को अजन्मा कहा गया है।[१५] तथा 'श्वेताश्वेतरोपनिषद्' में उसे अज् कहा गया है।[१६] ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में ईश्वर को निर्विकार और अनन्त कहा गया है।[१७] तथा साथ ही ईश्वर के दयालु एवं न्यायकारित्व स्वरूप का वर्णन भी प्राप्त होता है।[१८]

'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में स्वामी जी लिखते है कि जिसके ब्रह्म परमात्मा आदि नाम

हैं उसमें सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त हैं, जिसके गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं जो सर्वज्ञ निराकार सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता सब जीवों को कर्मानुसार सत्यन्याय से फलदाता आदि लक्षण युक्त हैं उसी को परमेश्वर मानता हूँ।

महर्षि का चिन्तन एक सत्ययोगी पुरुष का चिन्तन है उन्होंने ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को अनुभूत किया था। ईश्वर के सम्बन्ध में उनका यह चिन्तन न्यायसंगत, तर्कपूर्ण, सत्य एवं यथार्थ पर आधारित है तथा प्राच्य भारतीय दार्शनिक परम्परा का पोषक है।

जीवात्मा– दूसरा तत्त्व जीव या आत्मा है। यह कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु फल प्राप्ति में ईश्वरीय व्यवस्था में परतन्त्र है। दार्शनिकों ने इसे विभु माना है किन्तु महर्षि ने जीव को अणु परिमाण स्वीकार किया है। यह सत् एवं चित् है। आनन्दस्वरूप ईश्वर के ध्यान (सानिध्य) तथा धर्मानुकूल पवित्र आचरण और योगाभ्यास आदि के द्वारा आनन्द का भोक्ता है, तथा ईश्वर के असानिध्य एवं प्रकृति के अत्यधिक साहचर्य से दुःख का भोक्ता भी यही जीव होता है।

जीवात्मा को लेकर स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में अनेकशः विवेचन प्राप्त होते हैं। जीवात्मा और परमात्मा के गुण अलग–अलग हैं। महर्षि ने जीव को अनेक स्थलों पर अनादि बतलाया है यथा–जीव कभी उत्पन्न न हुआ, अनादि है।[१९] और इसी प्रकार परमात्मा, जीव और जगत् का कारण तीन स्वरूप से अनादि है। प्रकृति जीव और परमात्मा अज् हैं जिनका जन्म कभी नहीं होता। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार आत्मा अविनाशी है जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है, इस प्रकार जीव की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। वह नित्य है।[२०] जीव का नाश नहीं होता, नाश रहित जीवात्मा।[२१] परमेश्वर अनन्त स्वरूप सामर्थ्य गुण कर्म और स्वभाव वाला है इसलिए वह कभी अविद्या और दुःखबन्धन में नहीं गिर सकता। जीव मुक्त होकर भी शुद्ध स्वरूप अल्पज्ञ और परिमित गुण स्वभाव वाला रहता है। वह परमेश्वर के सदृश कभी नहीं हो सकता।[२२] क्योंकि अच्छे बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख दुःख का भोक्ता है।[२३] परमात्मा कर्मों का साक्षी और कर्मों का फल देने वाला है। परमात्मा और जीव का स्वरूप भी भिन्न है।[२४] परमेश्वर अति सूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से भिन्न है।

दयानन्द के मन्तव्य में जीवात्मा अनेक हैं। जीव तथा प्राकृतिक तत्त्व अनेक हैं। जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर तीव्र, सूक्ष्मार्थ, सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। इसीलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। किञ्च कर्मफल के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा है सब जीव स्वभाव से सुख प्राप्ति की इच्छा और दुःख का वियोग होना चाहते हैं, क्योंकि ज्ञान और प्रयत्न जीवात्मा के लक्षण हैं और जीवात्माओं की संख्या को

महर्षि ने अनन्त स्वीकार किया है।[२५]

आचार्य पाणिनि के 'स्वतन्त्रकर्त्ता' अष्टाध्यायी के इस सूत्र का उदाहरण देते हुए महर्षि कहते है–'जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्त्ता है तथा फल भोगने में परतन्त्र है।' पुनर्जन्म मुक्ति एवं बन्ध के ऊपर भी महर्षि ने व्यापकता से दृष्टि डाली है तथा मोक्षादि के साधनों का विस्तृत वर्णन भी किया है। मोक्ष के साधनों के साथ उसके स्वरूप का वर्णन भी 'नित्यानन्द मोक्षाप्राप्ता भवन्ति'[२६] एवं 'पारमार्थिक मोक्ष सुखम्'[२७] रूप से प्राप्त होता है। मुक्ति से पुनरावृत्ति को भी महर्षि ने वैदिक मन्तव्यानुसार स्वीकार किया है। इस प्रकार दार्शनिक रूप में महर्षि ने जीवात्मा का विवेचन किया है।

प्रकृति– प्रकृति तत्त्व को लेकर संसार के अनेक विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण से विविध विचार व्यक्त किये हैं। किन्तु प्रकृति (जगत्) के विषय में महर्षि का चिन्तन वैदिक, दार्शनिक, सत्य और यथार्थ पर आधारित हैं। जगत् के स्वरूप का वर्णन करते हुये महर्षि कहते हैं कि दृश्यमान जगत् की सत्ता सत्य है। सांख्यानुसार प्रकृति त्रिगुणमयी है। महर्षि की दृष्टि में जगत् क्षणभंगुर नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि जगत् नित्य है। वस्तुत: स्थिरता की दृष्टि से वस्तु के तीन भाग होते हैं–(१) क्षणिकता, नियतकाल में, (२) स्थिरता और (३) नित्यता। जगत् नित्य नहीं है वह पदार्थ नित्य माना जाता है जो कभी नष्ट न हो इस जगत् की सृष्टि होती है, प्रलय होती है। यह सदा इस रूप में नहीं रहता। महर्षि ने इस सन्दर्भ में न्यायसूत्र को उद्धृत किया है।[२८]

कार्यकारणवाद के विषय में महर्षि ने न्याय और वैशेषिक दर्शनों के मन्तव्यों को भली प्रकार स्पष्ट करते हुए कार्यकारणवाद के सिद्धान्त के द्वारा जगत् की अनित्यता को भली प्रकार स्पष्ट किया है तथा इसे उन्होंने सत्य और वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध कर दिखाया है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को उन्होंने निश्चित नियमों के आधार पर माना है। इस उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में परमात्मा निमित्त कारण, आत्मा साधारण कारण और प्रकृति उपादान कारण है। वेदानुकूल इस मत का उन्होंने प्रतिपादन किया है। वस्तुत: इस विषय में उनका चिन्तन दार्शनिक होने के साथ–साथ तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक भी है। सृष्टि के क्रम और प्रलय के विषय में महर्षि का मत वैदिक है।

इस अनादि तत्त्व प्रकृति के विषय में स्वामी जी की दृष्टि व्यापक है। यह प्रकृति न तो स्वयं बनती है और न बिगड़ती है। सत् है तथा जगत् की रचना में यह जडरूपाप्रकृति उपादान कारण है।[२९] स्वामी जी ने अनेकश: प्रकृति और परमाणु को जगत् का उपादान कारण बतलाया है। उनके अनुसार– (१) जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। (२) उपादान कारण प्रकृति

परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। (३) प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर (४) जो स्थूल होता है वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादान कारण है।[३४] क्योंकि प्रकृति सत् है तथा कार्य को देखकर इसका अनुमान किया जाता है। तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है, उसको जान। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूलाधार और स्थिति का स्थान है तथा अनादि और नित्य है।

प्रकृति के विषय में महर्षि का चिन्तन वैदिक एवं दार्शनिक मन्तव्यों के अनुकूल है। उनके चिन्तन को दृष्टिगत करने से उपादान कारण प्रकृति का ज्ञान सहज रूप में हो जाता है।

उक्त तत्त्व त्रय के परिप्रेक्ष्य में महर्षि का चिन्तन अपने पूर्ववर्ती आचार्य शंकर आदि से पर्याप्त भिन्नता लिये हुये है। साथ ही मुक्ति एवं मुक्ति से पुनरावृत्ति आदि विषयों में भी महर्षि का चिन्तन अन्य आचार्यों से भिन्न होते हुए भी वेद के अविरुद्ध है।

दर्शन के अन्य विषय शेष–शेषी भाव तथा ईश्वर का सृष्टि निर्माण या जगत् के प्रति कारणत्व को लेकर भी ऋषि का चिन्तन पूर्वाचार्यों से भिन्न है।

वस्तुत: महर्षि दयानन्द सम्मत इस समग्र चिन्तन का प्रयोजन मानव को अधिकतम सुख की उपलब्धि होना है और यह उपलब्धि जीवन तथा जगत् के प्रति सम्यक् दृष्टि के बिना सम्भव नहीं है। महर्षि अपने वक्तव्यों के द्वारा ही नहीं अपितु जीवन के द्वारा भी इस यथार्थता का बोध कराते हैं। अत: विद्वानों ने महर्षि दयानन्द के उक्त चिन्तन को **'दयानन्द दर्शन'** के नाम से अभिहित किया है।

डॉ. योगेश शास्त्री
अध्यापक, संस्कृत
गुरुकुल कांगड़ी 'विद्यालय–विभाग'
हरिद्वार

सन्दर्भ संकेत :–

१. बाधनालक्षणं दु:खम्–न्याय १.१.२१
२. सांख्य दर्शन–१.१
३. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
४. आर्यसमाज नियम–२
५. ओ३म् हिरण्यगर्भ: समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। १०.१२१.१
६. ऋग्वेद १०.८१.२४

७. ऋग्वेद १०.९०
८. ऋग्वेद १०.१२९
९. ऋग्वेद १०.२६.४६
१०. बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.४३
११. ऐतरेयोपनिषद् १.१
१२. छान्दोग्योपनिषद् ६.२.१३
१३. सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास प्र. १४.१५ ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, ईश्वर प्रार्थनोपासना विषय २६३
१४. सत्यार्थ प्रकाश अ.समु. २५२
१५. यजुर्वेद ३४.५३
१६. जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य: श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४.५
१७. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, ब्रह्म विद्या विषय स.प्र.अ.समु.प्र. २४४ एवं (प्र. ३६९)
१८ ऋग्वेदादि भा. भू. वेदात्पत्ति प्र. २७५
१९. मत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समु. प्र. २४७
२०. सत्यार्थ प्रकाश अष्टम् समु. प्र. २९३
२१. सत्यार्थ प्रकाश अष्टम् समु. प्र. २७१
२२. सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समु. प्र. २३६
२३. सत्यार्थ प्रकाश नवम् समु. प्र. ३०७
२४. सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समु. प्र. २५०
२५. सत्यार्थ प्रकाश नवम् समु. प्र. ३३३
२६ ऋग्वेदादि भा. भू. वेदोक्त धर्म प्र. ३९८
२७. ऋग्वेदादि भा. भू. वेदोक्त धर्म प्र. ३५१
२८. सर्वनित्यं पञ्चभूत नित्यत्वात् न्याय सूत्र ४.१.२५
२९. सत्यार्थ प्रकाश अष्टम् समुल्लास प्र. २७१
३०. मत्यार्थ प्रकाश अष्टम् समुल्लास प्र. २७०

महिला सशक्तीकरण और आज का साहित्य

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता', 'माता निर्माता भवति' और 'या देवी सर्वभूतेषु शान्ति रूपेण', 'शक्ति रूपेण, क्षमा रूपेण संस्थिता, नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः' कहकर जहाँ वैदिक, पौराणिक और उपनिषद् काल में नारी को प्रचुर सम्मान देते हुए उसकी ओजस्विनी शक्ति को सार्वजनिक रूप से स्वीकारा जाता रहा था, अपाला, लोपमुद्रा, गार्गी, मदालसा सदृश स्त्रियाँ अभूतपूर्व प्रतिभा की धनी होने के कारण जहाँ समाज में किसी परिचय की मोहताज नही थीं, वहीं कालान्तर में राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक दशाओं में परिवर्तन के साथ–साथ नैतिक मूल्यों का ह्रास होता चला गया और समाज में नारी का सम्मान घटता चला गया। स्त्री पुरुषों के हाथ की कठपुतली बन कर रह गयी। अनवरत प्रताड़ना और दैहिक–मानसिक शोषण ने नारी के आत्मविश्वास को भी हर लिया। सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य भी नारी को दुर्बल, शोषिता, अबला, पराधीन, त्रासदी और करुणा की अविकल प्रतिलिपि के रूप में प्रस्तुत करने लगा। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के प्रारम्भिक वर्षों तक तो नारी 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाही' का विज्ञापन ही नहीं बनी अपितु पुरुष वर्ग के मिथ्या दम्भ के परिणाम स्वरूप 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी' के अथाह दलदल में फंस गयी। रीतिकाल में वह मात्र प्रदर्शन, भोग और विलास की सामग्री के रूप में ही प्रस्तुत की जाने लगी। लेकिन भारतेन्दु युग का पदार्पण नवजागरण का शंखनाद करता हुआ आया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये सनद्ध बुद्धिजीवियों, क्रान्तिकारियों और समाज सुधारकों ने सामाजिक कुरीतियों के समूलोत्पाटन के साथ–साथ नारी शिक्षा, नारी उत्थान व उनकी सुप्त चेतना की हर सम्भव जागृति हेतु प्रशंसनीय कदम उठाये। साहित्यिक कृतियों में भी नारी की बदलती तस्वीर रेखांकित होने लगी। डरी सहमी नारी अपना पुराना चोला उतारकर स्ततन्त्रता आन्दोलन में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेती हुई, अंग्रेजी सिंहासन को हिलाती हुई सन् सत्तावन में पुरानी तलवार को फिर से चमकाती हुई 'बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी' को अपनी सहेली बनाने लगी। कथा, उपन्यास, कविता या संस्मरण हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में नारी के सर्वागीण परिवर्तित रूप की छटा दिखायी देने लगी।

'साकेत' की 'उर्मिला' हो या 'सीता' दोनों ही नारियां परमुखापेक्षिता से हट कर जीवन–संघर्ष का डटकर मुकाबला करती दिखायी देती है। तुलसी की छुई–मुई सीता इस काल में वाटिका को सींचती हुई कोल–किरातों की बालिकाओं को परिश्रम का महत्त्व समझाती हुई

आत्म–निर्भर बनने की शिक्षा देती प्रदर्शित की गयी है–

"ओ भोली कोल–किरात भिल्ल बालाओ।
मैं आप तुम्हारे यहाँ आ गई, आओ
तुम अर्द्ध–नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें, बुनें गाय की लय में।"

उसका स्वाभिमान और आत्म–विश्वास यह कहने से भी नहीं चूकता–

"औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ।
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रमवारि बिन्दु फल स्वास्थ्य शुक्ति फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यंजन आप झलती हूँ।"

यही नही, गुप्त जी ने लक्ष्मण के मुख से भी नारी की शक्ति का गायन किया है–

"अवश अबला तुम? सकल बल–वीरता,
विश्व की गंभीरता, ध्रुव–धीरता।"

साकेत की तो सुमित्रा भी न्याय के लिये गरजती हुई दिखायी देती ही है–

"सिंही सदृश क्षत्राणी,
गरजी फिर कह यह वाणी–
स्वत्वों की भिक्षा कैसी?
दूर रहे इच्छा ऐसी,
वीरों की जननी हम हैं,
भिक्षा–मृत्यु हमें सम हैं"

स्वातन्त्र्योत्तर काल के लगभग सभी कवियों ने 'नारी' को विरह–विह्वला, काम–क्रीड़ा–प्रवीणा–कामिनी रूप से हटाकर आधुनिक युग की लोक–सेविका, सिद्धान्त–प्रेमी, साहसी और समर्थ रूप में शब्द बद्ध करने की चेष्टा की है। हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' की राधिका 'लोकानुरागी, सर्वहितकारिणी, दीन–दुखियों की सहायक तथा विश्व प्रेमभाव में निमग्ना बनकर' सब के आदर की पात्रा बनी हैं। यहाँ नारी का वह सशक्त व समर्थ रूप सामने आया है जो सबका सहायक बना है, न कि सहायता की अपेक्षा रखता है–

"वे छाया थीं सुजन शिर की, शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं, औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
अराध्या थीं ब्रज–अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।"

यह नारी का ऐसा ओजस्वी व विराट् रूप है जहाँ वट–वृक्ष की भांति सबको आश्रय मिलता है। यहाँ वह अपने कर्मों से इतनी शक्तिमान बन गयी है, आत्मविश्वास से भरी इतनी ऊंची उठ गयी है कि अपनी पहचान के लिये उसे किसी और का मुँह नही जोहना पड़ता है। बल्कि वह तो अन्य के बिखरे आत्मविश्वास को पुन: उत्पन्न करने हेतु प्रेरणादायिनी, ऊर्जा स्रोतस्विनी बनी है। रत्नाकर के 'उद्धवशतक' की गोपियों में भी तत्कालीन नारी–उत्थान आन्दोलन की छाप है। ये अपेक्षाकृत अधिक बहिर्मुखी, तार्किक व बुद्धिमती है।

दिनकर की 'उर्वशी' में यदि पुरुरवा–उर्वशी के मध्य बौद्धिक वार्तालाप की ओर अवधान दें, तो निश्चित रूप से हम पाते हैं कि उर्वशी कहीं अधिक सूझबूझ वाली, स्पष्ट विचारों वाली ओर अभूतपूर्व अकाट्य तर्कों की स्वामिनी है। वह पुरुरवा के लड़खड़ाते आत्मविश्वास को सहारा देती है और संशयग्रस्त, द्वन्दवात्मक जीवन जीने के बजाय प्रकृति और परमात्मा में, भौतिक जगत और आध्यात्मिक जगत में बुद्धिमतापूर्ण सामन्जस्य बनाये रखते हुए कुंठाहीन, सन्तुलित, स्वस्थ और समाजोपयोगी जीवन जीने की प्रेरणा देती है।

प्रेमचन्द के बहुचर्चित, विश्व के महानतम उपन्यासों में से एक 'गोदान' की धनिया हो या अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' की वनकन्या और शीलास्विंग हो–अपनी–अपनी जमीन से ये सभी क्रान्तिकारी, विद्रोहिणी और स्वावलम्बी नारियां है। 'गोदान' का होरी जहाँ नियति का पक्षधर बना, हर अन्याय को सिर झुकाकर बर्दाश्त कर लेता है वहीं धनिया चहुंमुखी अन्याय से जूझती दिखायी देती है। उसकी जीवनी शक्ति उसे किसी भी अन्याय के आगे झुकने नहीं देती है। वह तो आर्थिक–सामाजिक शोषण के खिलाफ उनके आगे फौलादी दीवार बन खड़ी होकर अपने समूचे परिवार के अस्तित्व को बचाये रखने का हर सम्भव प्रयत्न करती दृष्टिगत होती है। शीलास्विंग और वन कन्या के लीक पर न चलते हुए भी उनमें सन्तुलन है, विवेक है, मानवतावाद है। वन कन्या सज्जन की दुर्बलताओं की उपेक्षा कर अपने प्यार से उसकी नैतिक शक्ति और सेवा मार्ग की स्फूर्ति बनती है। शीलास्विंग अपनी अभाव भावना का सार्वजनिक सेवा–कार्य में उदात्तीकरण कर अपनी प्राईवेट प्रैक्टिस त्यागकर अस्पताल में काम करने लगती है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनूठे उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की महामाया के रूप में हम एक अपूर्व साहसी, प्रभावशाली और जन–उद्‌बोधिका से साक्षात्कार करते हैं। यहाँ नारी का ऐसा सशक्त रूप दिखाई देता है जो अपने ओजस्वी व्याख्यान से समूचे जनमानस को हिला देता है। अपनी एक पुकार से वह जनमानस में कर्त्तव्य बोधन और कर्मठता की तरंगें उद्वेलित करने में समर्थ है। इसका जीवन अपूर्व त्याग, देश–प्रेम और पर–सेवा अनुराग का अन्यतम उदाहरण है। वस्तुत: महामाया और सुचरिता जैसी संन्यासिनियाँ युग–धर्म तथा पुरुष समाज की

नपुंसकता को उद्घाटित करने हेतु सशक्त अन्त: संभूमिका का निर्वाह करती है।

सातवे दशक के पश्चात् हिन्दी कथा–साहित्य में भी नारी के स्वरूप में आमूल चूल बदलाव दृष्टिगत होता है। युद्ध, स्वतन्त्रता और बाद के तेजी से बढ़ते औद्योगीकरण तथा शहरीकरण की परिस्थितियों ने नारी के आत्मनिर्भर, आत्मनिर्णायक होने की नयी स्थितिया ने उसके स्वरूप और मानसिक गठन को बदला है। आज की कथाओं में वह भीड़–भाड़ भरी भागती दुनियां में कहीं एयर होस्टेस बनी हुई, नर्स बनकर दूर–दराज अस्पतालों में, लड़ाई के मोर्चों मे घायल जवानों की परिचर्या में, कहीं ग्राम–सेविका, कन्वेसर, एजेंट बनकर दूर–दूर जाती हुई, कहीं डेलीगेशनों में, कहीं एक्सकर्शनों में, कहीं उच्चशिक्षण के लिये देश–विदेश के चक्कर काटती हुई, स्कूटरों से हवाई जहाज तक चलाती हुई–एक अनूठे आत्मविश्वास से लबालब भरी हुई चित्रित की गई है। मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, मोहन राकेश, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, राजेन्द्र यादव, अमरकांत, धर्मवीर भारती, भीष्मसाहनी, उषाप्रियम्वदा, शानी, अमृतलाल नागर, शेखर जोशी, प्रयागशुक्ल, निर्मल वर्मा, दूधनाथ सिंह इत्यादि कथाकारों की अनेकानेक कहानियाँ नारी की इस बदलती तस्वीर का बेबाक बयान करती हैं।

अन्तत: आज की नारी अपनी दिशायें खुद तलाशती हुई लक्ष्य की ओर मजबूती से कदम रखते हुए आगे बढ़ रही है। वह आज परतंत्र, विवश, याचक या निर्बल नहीं है अपितु वह तो समाज में सक्रिय भागीदारी करती हुई अपने अधिकारों को स्वयं अपने लिये सुरक्षित कर लेती है। आज के समूचे साहित्य में उसका यह आत्मविश्वासी रूप सर्वत्र दिखाई पड़ रहा है।

डॉ. मृदुल जोशी
प्रवक्ता, हिन्दी
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तरांचल)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के खेल जगत् का कुछ भूला-बिसरा इति-वृत्त

आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व जब गुजरांवाला पञ्जाब से २४ ब्रह्मचारियों का एक छोटा सा दल १९०२ में हरिद्वार रेलवे स्टेशन पर उतर कर दो–दो की पंक्ति में जुलूस बनाकर वेदमन्त्रों की ध्वनि गुंजाता हुआ महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द) व आचार्य गंगादत्त जी की छत्र–छाया में कनखल निवासी लाला भारामल की कोठी में आतीथ्य ग्रहण करता हुआ, कनखल के श्मशान घाट से होता हुआ, नील धारा को पारकर, कांगड़ी के जंगलों में प्रवेश करता हुआ, झाड–झंखाड़–संकुलम–गुरुकुलम् (पुण्यभूमि) के परिसर में पहुंचा–तब किसी को क्या पता था कि उस महात्मा का संजोया स्वप्न एक शती को पार कर दूसरी शती में प्रवेश पा जाएगा।

अपने आरम्भकाल से ही स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल के लिए जो शिक्षा–नीति तैयार की थी और ब्रह्मचारियों की प्रतिदिन की जो दिनचर्या तैयार की थी उसमें ज्ञान–विज्ञानों की शिक्षा के साथ–साथ व्यायाम एवं खेलों का स्थान भी अनिवार्य था। इसीलिए १९०२ से १९०७ तक के वार्षिक विवरण में स्वामी जी ने जो विचार अंकित किए थे, वे आज भी महत्त्वपूर्ण और प्रेरणादायी है। यथा–"गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का एक प्रसिद्ध अंग शारीरिक शिक्षा है। ब्रह्मचारियों से दण्ड, मुग्दर तथा मल्लक्रीड़ा (कुश्ती) कराई जाती है। सायंकाल को क्रिकेट, फुटबाल, कबड्डी आदि खेले भी खिलाई जाती हैं। बड़े ब्रह्मचारियों को घुडसवारी (अश्वारोहण) भी सिखाई जाती है और विचार है कि उन्हें गदका, फड़ी भी सिखाई जाए। शरीर के अंग–प्रत्यंगों के समुचित संचालन से पंक्तिबद्ध विचित्र समूह रचन की विधि (ड्रिल) भी ब्रह्मचारियों को सिखाई जाती है। इस अभ्यास में आज्ञा निर्देशक शब्दों का प्रयोग संस्कृत में ही होता है। एक भद्र पुरुष ने (ठाकुर गोविन्द सिंह रईस पातुर निवासी) व्यायामशाला के लिए ढाई सहस्र रुपये (२५००) दान दिया है। यदि पाँच सहस्र रुपये (५०००) और इस कार्य के लिए मिल जाए तो एक अच्छी व्यायामशाला बनाकर उसमें आवश्यक सामान भी रखे जा सकते हैं। आशा है कि सर्वसाधारण गुरुकुल के अधिकार को समझकर उदार हृदय से उसकी सहायता करेंगे और आवश्यक धन शीघ्र ही जमा हो जाएगा।" शिक्षा के साथ–साथ खेलों के महत्त्व पर यह दृष्टिकोण था स्वामी जी का। इसीलिए स्वामी जी ब्रह्मचारियों के व्यायाम पर सदा बल देते थे। उन्हे यदा–कदा–सदा ब्रह्मचर्य के महत्त्व के विषय में जानकारी देते थे। उन्हे निर्भीक, साहसी, बलवान और कर्त्तव्यपरायण बनने की प्रेरणा देते थे। गन्दी आदतों और कुटैवों से दूर रखने की कोशिश करते थे। शुद्ध, सादा, पौष्टिक, दूध, दही, घी से पूर्ण भोजन छात्रों को प्राप्त हो, इसका सदा ध्यान रखा जाता था। इसी प्रकार पं. गंगादत्त जी स्वयं व्यायाम (दण्ड–बैठक–कुश्ती)

आदि करते थे और ब्रह्मचारियों को भी नित्यप्रति इसका अभ्यास कराते थे। सभी अध्यापक (अधिष्ठाता) यहाँ तक कि स्वयं आचार्य जी आदि खेल के मैदान में ब्रह्मचारियों को उत्साहित करते थे। उस समय के ब्रह्मचारी नंगे पैर हाकी एवं फुटबाल, क्रिकेट आदि खेला करते थे। पं. धर्मपाल जी विद्यालंकार के लिए तो यह प्रसिद्ध था कि यदि फुटबाल में उनका पैर किसी से टकरा जाए तो समझो उसकी हड्डी गयी। गुरुकुल की हाकी टीम का तो यश चहुँ ओर था। ब्रह्मचारी इतने बलवान, निडर व पुष्ट होते थे कि हिंस्रक पशुओं से निडर हो मुकाबला करते थे। ब्र. महेन्द्रप्रताप व ब्र. सत्यपाल की चीतों से भिडन्त भी हुई। ब्र. महेन्द्र को 'अंगद कुमार' की उपाधि चीते के मुंह में पैर को जमा कर रखने में मिली। सत्यपाल जी व व्यायाम शिक्षक सरदार फतह सिंह का चीते के साथ चित्र तो आज भी 'स्नातक–परिचय' नामक पत्रिका में अंकित है। उस समय तथा बाद तक भी ब्रह्मचारियों के दो ही ध्येय होते थे–शिक्षा प्राप्त कर विद्वान् बनना और शारीरिक दृष्टि से बलवान बनना।

गुरुकुल के खेल जगत् की उन पुरानी यादों को हम फिर से कुछ वर्षों के उद्धरण देकर ताजा करना चाहेंगे। यथा–१९१२ में खेलों व व्यायाम की स्थिति इस प्रकार रही। 'दशम श्रेणी को छोड़कर विद्यालय की सब श्रेणियों का क्रीड़ाध्यक्ष वर्ष के दूसरे सत्र में मा. गोवर्धन जी को नियुक्त किया गया। मा. सुखराम जी उनकी सहायता करते रहे। दोनों प्रकार की कबड्डियां जो देश में खेली जाती है उन दोनों के बीच में एक खेल गुरुकुल में ब्रह्मचारी खेलते है। जो खेलने में शानदार है। विजयदशमी पर खेलें बड़े उत्साह से हुई। क्रिकेट, फुटबाल, हॉकी, कबड्डी आदि के मैच, लंका विजय के खेल ५ दिन तक होते रहे। सभी श्रेणियां हॉकी खेलती हैं। कुछ श्रेणियां हॉकी नुमा डण्डो से खेलती है। जहॉ पहले अधिक खर्च होता था वहां अब कम खर्च होने लगा है। हॉकी का नाम 'होगी' रखा हुआ है तथा फुटबाल का एक रूपान्तर देशी खेल जिसको 'मोरिया पैगन्द' गुरुकुल में कहते है जारी किया गया है। यह खेल कपड़े की स्वनिर्मित पुच्छल गेंद से खेला जाता है। आधा घन्टा प्रतिदिन प्रातःकाल अधिष्ठाताओं के निरीक्षण में व्यायाम होती रही। जो कि पट्टो आदि की होती है। दण्ड–बैठक और दौड़ अन्य प्रकार की ड्रिल तथा रस्सा खेंचना आदि। ब्रह्मचारी गंगा में तैरने का अभ्यास करते रहे।'

यहॉ हम यह बता दें कि गुरुकुल की प्राचीन परम्परा रही है कि विजयादशमी (दशहरे) पर छात्रों के परस्पर क्रीड़ा–सान्मुख्य होते रहे है। दीवाली पर गुब्बारे, कण्डील आदि बनाने उडाने की परम्पराये तो कभी की काल कवलित हो चुकी हैं। खैर ।।

अब हम २६ वें वार्षिक विवरण पर आते है। "ब्रह्मचारी क्रीड़ा में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। हॉकी, फुटबाल, क्रिकेट तथा बालीबाल मुख्य खेले हैं। हॉकी की प्रधानता है। इस वर्ष गुरुकुल दल अखिल भारतीय आर्यकुमार सम्मेलन लखनऊ के हॉकी टूर्नामेन्ट में शामिल हुआ और विजयी रहा। विजय चिह्न शिल्ड प्राप्त कर गुरुकुल में ससम्मान लौट आया। इसके अतिरिक्त देशी

खेलों की ओर भी ध्यान दिया गया। गतका, बनेठी, छुरी, तलवार, पट्टा, लेजिम, धनुष बाण, जंजीर तोडना, मोटर रोकना, छाती पर पत्थर तुड़वाने के खेल भी होते रहे। ब्रह्मचारियों ने उत्सव पर यह खेल दिखलाए। इनसे प्रसन्न होकर श्री उम्मेद सिंह जी महाराज कुमार शाहपुर ने १०० रुपये हवाई बन्दूकों के लिए दिए।"

अट्ठाइस से उनतीसवें विवरणानुसार – "खेलों के लिए यह वर्ष स्मरणीय रहा। इसका सारा श्रेय उत्साही क्रीडामन्त्री ब्र. श्वेतकेतु को है। गुरुकुल क्रीडा विभाग की खेलें दो प्रकार की है। एक विदेशी दूसरी देशी। विदेशी खेलों में हॉकी, फुटबाल, वालीवाल और क्रिकेट मुख्य है। देशी खेलों में तैरना, कुश्ती लड़ना, जिमनास्टिक, छुरी, गतका, बनेठी का अभ्यास दोनों ही खेलें इस वर्ष अपने उत्कर्ष पर रही।

क्रीड़ा विभाग की ओर से इस वर्ष दो विशेष सान्मुख्य हुए। पहला 'श्रद्धानन्द देशी क्रीड़ा सान्मुख्य' यह सान्मुख्य सत्रान्तावकाश से पूर्व हुआ। इसमें तकिया युद्ध, बाधा दौड़, ऊँची कूद, लम्बी कूद, जिमनास्टिक आदि खेले बड़ी अच्छी बीती। सान्मुख्य की विशेष खेल तैरी थी। लम्बी तैरी ६ मील की थी। इसमें ब्र. देवनाथ प्रथम रहे। उनको १० रुपये का पारितोषिक मिला। सिंह तैरी का पाट ७५ गज का था। इस समय गंगा का प्रवाह बड़ा भयंकर हो जाता है। फिर भी ब्र. चित्राङ्गद द्वादश ने इस ७५ गज वाले तेज धार के पाट को २ मिनट ७ सैकिण्ड में ४ लगभग २०–२९ गज के अन्तर से पारकर प्रथम पारितोषिक प्राप्त किया। दूसरा विशेष सान्मुख्य श्रद्धानन्द सप्ताह पर हुआ था। इस सान्मुख्य की विशेष खेल ६ मील की लम्बी दौड़ थी। ब्र. धर्मेन्द्रनाथ त्रयोदश ने यह दूरी ३१ मिनट में पूरी की। प्रथम पारितोषिक प्राप्त किया।"

आइये अब आगे के हाल लिखे। ३० वें वार्षिक खेलों की उपलब्धि बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। इस वर्ष कुल की ओर से 'श्रद्धानन्द हॉकी टूर्नामेन्ट' हुआ। जिसमें बहुत सी बाहर की टीमों ने भाग लिया। गुरुकुल दल इसमें विजयी रहा। इसके अतिरिक्त गुरुकुल दल मसूरी तथा मेरठ भी खेलने के लिए गया, जिसमें गुरुकुल की खेल बहुत पसन्द की गयी। इस खेल की सारी उन्नति का श्रेय ब्र. शिवदत्त को है।

१९३३ से १९३८ तक का खेल प्रकरण इस प्रकार रहा। गौर से पढ़ें– "प्रत्येक विद्यार्थी के लिए खेल आदि में भाग लेना आवश्यक है। गुरुकुल का दल बड़े–बड़े टूर्नामेन्टों में निमन्त्रित किया जाता है। जनता उसके खेल को बहुत पसन्द करती है। पिछले वर्षों में गुरुकुल दल को मेरठ, बिजनौर, शाहजहाँपुर, कलकत्ता आदि बुलाया गया। गर्मियों के दिनों में ब्रह्मचारी तैरने का अभ्यास करते हैं। गढ़मुक्तेश्वर में जो तैरने की प्रतियोगिता होती है उसमें गुरुकुल के ब्रह्मचारी सदा प्रथम आते हैं। प्रारम्भिक श्रेणियों के १०–१२ वर्ष की आयु के छोटे विद्यार्थी बड़े कुशल तैराक है। यहाँ दो व्यायाम शिक्षक है जो कुश्ती, लाठी चलाना, ड्रिल आदि भी सिखाते हैं।

श्रद्धानन्द सप्ताह के अवसर पर सब प्रकार की खेलों का अच्छा समारोह प्रतिवर्ष यहाँ होता है। गुरुकुल के वार्षिकोत्सव के समय भी विद्यार्थी अपने व्यायाम सम्बन्धी प्रदर्शन करते हैं। इसमें जनता बड़ी दिलचस्पी लेती है। ब्रह्मचारियों का सैनिक शिक्षा देने का आयोजन भी किया जा रहा है। गुरुकुल की अपनी व्यायामशाला भी बहुत अच्छी है। पहले वह बहुत दूर पर थी। अब उसे वहां से हटाकर महाविद्यालय आश्रम के पास ले आए हैं। जिमनास्टिक तथा व्यायाम के उत्तम उपकरणों से इसे सुसज्जित किया गया है।"

इसी प्रकार इन्द्रप्रस्थ गुरुकुल (क्योंकि उस समय गुरुकुल कांगड़ी का ही एक अंग था।) की हाकी टीम भी दिल्ली के अनेक सान्मुख्यों में विजयी होती रही।

१९२४ के विवरण में वालचर (स्काउटिंग) एवं बैण्ड शिक्षण की व्यवस्था का भी वर्णन आता है। हम जब पढ़ते थे तब विद्यालय और महाविद्यालय दोनों जगह गुरुकुल का बैण्ड था। वह स्वर्ण युग था। उस समय की व्यवस्थायें तो अपना सानी ही नहीं रखती।

१९४९ से ५३ तक जो खेलों में गति रही, उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है– "इन वर्षो में ब्रह्मचारियों की क्रीड़ा तथा बालचर विद्या सम्बन्धी (स्काउटिंग) प्रवृत्तियां बहुत प्रशंसनीय रही। समय--समय पर छात्र गणं वन--यात्राओं पर जाकर वहीं पर कैंप डालकर रात्रिवास करते रहे। पंचपुरी की शिक्षा–संस्थाओं की स्काउट रैली में गुरुकुल के छात्र अपनी कार्यपटुता पर विजयोपहार जीत लाए। बालचर विद्या की शिक्षा के लिए भारत बालचर संघ की हरिद्वार शाखा के संचालक श्री शान्तिस्वरूप जी गर्ग ने समय--समय पर कुल में पधारकर छात्रों को बहुत सहायता प्रदान की है। उसके लिए गुरुकुल उनका बहुत आभारी है और संघ व्यायाम और अभिनय आदि के कार्यों मे श्रीमन्नारायण दीक्षित का प्रयत्न प्रशंसनीय रहा। पिछले तीन वर्षो में विद्यालय की व्यायामशाला की भी अच्छी उन्नति हुई। इन चार वर्षो में पंचपुरी के शीतकालीन खेलों में गुरुकुल के छात्रों ने लगभग सभी खेलों में प्रथम स्थान पाया।"

इस प्रकार उपरोक्त थोड़े से विवरणों के आधार पर हमने गुरुकुल के खेल जगत् की कुछ उपलब्धियों पर प्रकाश डाला है। तथा यह जानने की कोशिश की है कि वह बीता हुआ काल आज के परिप्रेक्ष्य में कितना प्रेरणास्पद व लाभकारी हो सकता है।

शिक्षा के साथ क्रीडा को जोड़ने का ही यह फल था कि उस समय ब्र. निधि, ब्र. देशबन्धु जो बाद में गुरुकुल के अधिकारी बने, विदेश गए–वहां धनुष–बाण के खेलों और यौगिक क्रियाओं से सबको चमत्कृत करते रहे। ब्र. महेन्द्रप्रताप (अंगद कुमार) विदेश में जाकर अनेक शारीरिक प्रदर्शन करते रहे, तथा वहीं एक कार दुर्घटना में उनकी मृत्यु हुई।

पश्चात् गंगापार (पुण्यभूमि) से जब गुरुकुल वर्तमान परिसर में आया तो यहाँ भी

ब्रह्मचारियों में व्यायाम और खेलों के प्रति इतना रूझान था कि एक किंवदति के अनुसार रामपुर नरेश ने प्रसन्न होकर हॉकी ग्राउण्ड बनवाया। खेलों में न जाने कितने चल विजयोपहार गुरुकुल ने जीते। हरिद्वार क्षेत्र में उस समय जितने भी खेलों के कार्यक्रम या प्रतिस्पर्द्धाएं होती थी, गुरुकुल उनमें सबमें विजयी होकर आता था। गुरुकुल के प्रारम्भ काल से ही ब्रह्मचारियों को व्यायाम व ड्रिल आदि सिखाने के लिए व्यायाम शिक्षक या पी.टी.आई रखे जाते रहे हैं। जिनका ब्यौरा निम्न है–सर्व श्री सरदार फतह सिंह, मा. तेज सिंह, रामानन्द, प्रेमानन्द, बलदेव (पहलवान), श्री मन्नारायण दीक्षित, रणवीर सिंह, जिले सिंह, अतर सिंह, हरपाल सिंह व रणजीत सिंह।

यहाँ हम यह भी जान लें कि गुरुकुल विश्वविद्यालय की पूर्व व्यवस्थाओं की भांति वर्तमान में भी गुरुकुल विद्यालय व गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की क्रीडाओं में कोई सामञ्जस्य नहीं है। खैर ।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान पश्चात् उनके नाम से जो **"अखिल भारतीय श्रद्धानन्द हॉकी टूर्नामेन्ट"** का आयोजन किया जाता रहा था, जिसका तारतम्य अनेक बार टूटा और जुड़ा है, उसके विषय में पच्चीसवें वार्षिक विवरण के ये वाक्य महत्त्वपूर्ण हैं– "गुरुकुल रजत जयन्ती (१९२७) के अवसर पर कुछ महानुभावों ने **'श्रद्धानन्द हॉकी विजयोपहार'** के लिए ३०० रुपये दान दिया। उसी से इस वर्ष **'हॉकी टूर्नामेन्ट'** की बुनियाद रखी गयी। महोत्सव में टूर्नामेन्ट में शामिल होने के लिए बाहर के बहुत से दलों को निमन्त्रित किया गया था। परन्तु यूनिवर्सिटी परीक्षाओं के समीप होने से बहुत से दल न आ सके। बिजनौर, लुधियाना और वृन्दावन से तीन दल आए। पाँच दल गुरुकुल के थे। इन आठ दलों में गुरुकुल का दल विजयी रहा। **महात्मा गांधी जी** ने अपने कर कमलों से विजयी दल के मुखिया को **'श्रद्धानन्द विजयोपहार'** अर्पित किया और प्रत्येक विजयी खिलाड़ी को एक–एक रजत पदक दिया।"

यह है उस सर्वप्रथम **'श्रद्धानन्द हॉकी टूर्नामेन्ट'** के चलन की कथा, जिसमें राष्ट्रपिता **महात्मा गांधी** ने पुरस्कार बांटे थे।

यही नहीं अगले वर्षों में जब यह टूर्नामेन्ट होने लगे तो कठिनाई से ही बाहर की कोई टीम विजयोपहार ले जाती थी। ऐसी थी हमारी हॉकी टीमे। श्रद्धानन्द–सप्ताह जो सदा २३ दिसम्बर से २९ दिसम्बर तक मनाया जाता रहा है। इसमें प्रातःकाल प्रभातफेरी होती थी। श्रद्धानन्द द्वार से जुलूस निकलता था। जो कुल पताका फहराने के पश्चात् सभा में परिवर्तित हो जाता था। सभा पश्चात् 'हॉकी टूर्नामेन्ट' का उद्घाटन होता था। ७ दिन तक दिन में हॉकी के मैच और रात को नाटक व सांस्कृतिक कार्यक्रम होते थे। यह सब कुलमन्त्री व क्रीड़ामन्त्री के द्वारा होते थे। सभी अपने–अपने कार्यक्रमों को अच्छे से अच्छा बनाने की कोशिश करते थे। टूर्नामेन्ट का एक आकर्षण पुराने स्नातकों के 'अलंकार दल' का शो मैच होता था। यंग टाइगर्स

नाम से अनेक युवा प्रतिभाएं सामने आती थी। गुरुकुल के ब्रह्मचारी जहाँ अनेक खेलों फुटबॉल, बालीबॉल, क्रिकेट, कबड्डी आदि में निपुण होते थे, वहां हॉकी में तो वे अपना सानी नहीं रखते थे। हॉकी की तो अनेक टीमें होती थी। विद्यालय के ब्रह्मचारियों की टीम भी बहुत अच्छा प्रदर्शन करती थी। गुरुकुल ने उस समय अनेक प्रतिभावान् खिलाड़ी दिए, जिन्होंने अपनी जगह अपना नाम रोशन किया। जिनमें कुछ नाम इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं— जर्मनी में हॉकी—क्रीड़ा—कुशलता में गुरुकुल का नाम रोशन करने वाले स्नातकों के नाम इस प्रकार हैं—वीरेन्द्र कुमार सिद्धान्तालंकार तथा नारायण दत्त आयुर्वेदालंकार, देशबन्धु विद्यालंकार, ईश्वरदत्त विद्यालंकार, कृष्णस्वरूप विद्यालंकार (अत्यन्त साहसी एवं धनुर्विद्या के ज्ञाता), महेन्द्रनाथ विद्यालंकार, प्रेमचन्द विद्यालंकार, कृष्णाचन्द्र विद्यालंकार (१९२६ ई.), निरञ्जनदेव आयुर्वेदालंकार, ब्रह्मदत्त आयुर्वेदालंकार, हरिवंश वेदालंकार (१९२७ ई., हॉकी में अनेक पदक), तडित विद्यालंकार (हॉकी, क्रिकेट), धर्मानन्द आयुर्वेदालंकार, देवनाथ विद्यालंकार. (१९३०, हॉकी टीम के कप्तान), श्वेतकेतु विद्यालंकार (क्रीड़ा मन्त्री), जगद्भानु विद्यालंकार (१९३४), गणपति विद्यलंकार (१९३५, हॉकी के खिलाड़ी), चन्द्रगुप्त वेदालंकार (१९३५, प्रसिद्ध तैराक), सोमप्रकाश आयुर्वेदालंकार (१९३५, हॉकी की अच्छे खिलाड़ी, क्रीड़ा मन्त्री), पुरुषोत्तम आयुर्वेदालंकार (हॉकी टीम के बैक, १९३७), सदानन्द आयुर्वेदालंकार (१९३७, दौड़ में सदा प्रथम आए), हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार (हॉकी व बालीबॉल के माने हुए खिलाड़ी), मनोहर विद्यालंकार (१९३८, हॉकी टीम के बैक तथा तैराक), हरिवंश वेदालंकार (हॉकी व वन भ्रमण), अनन्तानन्द आयुर्वेदालंकार (१९३९, हॉकी), धर्मचन्द्र आयुर्वेदालंकार (१९४४, हॉकी), महेन्द्रनाथ आयुर्वेदालंकार (१९४४, हॉकी व बालीबॉल), सत्यपाल आयुर्वेदालंकार (हॉकी, बालीबॉल), निरूपण विद्यालंकार (१९४५, हॉकी व बालीबॉल, कुलमन्त्री), वेदभूषण (हॉकी) अमरनाथ आयुर्वेदालंकार (१९४६, अच्छे खिलाड़ी), ब्रजनन्दन आयुर्वेदालंकार (१९४६, हॉकी कप्तान), कुलभूषण आयुर्वेदालंकार (१९४७, हॉकी कप्तान), रामचन्द्र आयुर्वेदालंकार (१९४७, हॉकी, बालीबॉल), विनय आयुर्वेदालंकार (१९४८, हॉकी कप्तान), चन्द्रकेतु आयुर्वेदालंकार (१९४९, क्रीड़ा मन्त्री), राजेश्वर आयुर्वेदालंकार (१९४९, अच्छे खिलाड़ी व कुल मन्त्री), अवनीन्द्र आयुर्वेदालंकार (१९५०, हॉकी, फुटबॉल कप्तान रहे), धमेन्द्रनाथ आयुर्वेदालंकार (१९५०, हॉकी, फुटबॉल), भूदेव आयुर्वेदालंकार (१९५०, हॉकी), रामपाल विद्यालंकार (१९५०, हॉकी व फुटबॉल के खिलाड़ी, माने हुए राइट आउट), इसके अतिरिक्त हमारे समय तक अनेक हॉकी के खिलाड़ी रहे जिनमें — भूपेन्द्र (भोगल), जितेन्द्र, तांराचन्द्र, अभयदेव, धर्मदेव, बहादुर, नरेन्द्र (धनौरा), जयवीर, सुखवीर, सोमप्रकाश, वीरेन्द्र (धामपुर), जयनारायण (नेशनल हॉकी फेडरेशन के सदस्य), धर्मवीर, वीरोत्तम नेपाली (भारत की हॉकी टीम में चुने गए थे), महावीर "नीर" (हॉकी कप्तान रहे, तथा तत्कालीन कुलपति रघुवीर सिंह द्वारा पुरस्कृत) आदि।* विद्यालय में ५०—६० के दशक में पं. पुरुषोत्तमदेव जी व कॉलेज विभाग में डॉ. अनन्तानन्द जी खेलो का कार्यभार सम्भालते रहे।

विद्यालय व महाविद्यालय की व्यायामशालाओं में खेल का सामान भरा रहता था। छात्र पैरलल वार, रिंगस्, डम्बिल, लेजिम, पी.टी., लाठी, बनेठी, गतका, मलखम्ब, छुरी चलाना, तलवार चलाना, अग्नि गोला, स्तूपनिर्माण, सरिया मोडना, थाली फाड़ना, जंजीर तोड़ना, ४० मन का पत्थर छाती पर रखवाना (यह पत्थर आज भी पंडाल के पास पेड़ की जड़ में पड़ा है।), भार उठाना, कार रोकना, भरी गाड़ी दाँतों से खींचना, योग के आसन, धनुष–बाण के करतब दिखाना, सब वार्षिकोत्सव पर करते थे। जनता देख–देख कर चकित होती थी। यहाँ के ब्रह्मचारी अपने प्रारम्भ काल से ही शारीरिक बल का प्रदर्शन करते रहे हैं, जिनमें उस समय के ब्रह्मचारी महेन्द्रनाथ, ब्रह्मचारी सुदर्शन (गुरुकुलीय भीम) ब्रह्मचारी राजेश्वर राव, ब्रह्मचारी सुधाकर (गुरुकुलीय भीम), ब्रह्मचारी केशवदेव, ब्रह्मचारी दयानन्द, ब्रह्मचारी जयवीर, ब्रह्मचारी शिवकुमार, ब्रह्मचारी हेमसिंह, ब्रह्मचारी देवकेतु आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

तैराकी भी व्यायाम के ही अन्तर्गत आती है। गुरुकुल में पढ़ने वाला कोई भी ब्रह्मचारी ऐसा नहीं होता था जिसे तैरना न आता हो। (पुण्यभूमि) कांगड़ी पार जब गुरुकुल था तो वहां ब्रह्मचारी गंगा में ही स्नान करते थे। श्री सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार (पं. चन्द्रकेतु जी के बड़े भाई) जब पढ़ते थे, कई बार स्वामी जी द्वारा प्रेरित किए जाने पर रात को चण्डी मन्दिर को छू कर आए। प्रमाणरूप में उसकी चाँदी की आँख निकाल लाए, फिर उन्हे लगाने गए। इस प्रकार छात्रों में निर्भीकता, निडरता व वीरता तथा साहसिकता की भावना का संचार किया जाता था। चण्डी के नीचे सिद्ध स्रोत व धर्मस्रोत के घने जंगलों में भ्रमण करना उस समय अपने आप में एक वस्तुतः दुस्साहसिक कार्य था। हाँ, तो हम तैराकी की बात कर रहे थे। गुरुकुल के ब्रह्मचारी गढ़मुक्तेश्वर, बनारस, सहारनपुर रियासत आदि की तैराकी प्रतियोगिताओं में भाग लेते थे। वर्तमान में गुरुकुल के मोतीघाट पर जुलाई में पंचपुरी की तैराकी प्रतियोगिता की जाती थी, जिसमें ब्रह्मचारी प्रथम आते थे। सिंह तैरी, लम्बी तैरी, डुबकी आदि की प्रतियोगिताएं होती थी। पं. वासुदेव जी (स्व. प्रशान्त वेदालंकार के पिता) तैराकी के अनेक करतब दिखाते थे। उस समय पं. चन्द्रकेतु जी, पं. कृष्णराव जी जैसे तैराक थे जो ब्रह्मचारियों को तैरी सिखाते थे। घाट के पास में ही पं. इन्द्र जी ने नहर में कूदने का एक फट्टा बनवाया था, जिससे ब्रह्मचारी नहर में ऊँचाई से कूदने का आनन्द लेते थे। आज घाट व फट्टे की दशा का क्या वर्णन करूँ ?

खेलों की जब बात चल ही रही है तो उसी सन्दर्भ में हम यह भी बताना चाहेंगे कि जिस प्रकार उस समय गुरुकुल के ब्रह्मचारी 'वाद–विवाद' या 'भाषण प्रतियोगिता' में बाहर से जीतकर आते थे तो उनका अभिनन्दन होता था, उसी प्रकार 'हॉकी दल' जब जीतकर आता था, तो श्रद्धानन्द द्वार से गुरुकुल के बैण्ड सहित उसका जुलूस निकाल अभिनन्दन होता था। यह थी खेलों के प्रति कुलीय भावना। सारा गुरुकुल उल्लास में डूब जाता था। आचार्य, अध्यापक व अधिष्ठाता सभी छात्रों को पढ़ने के साथ–साथ खेलों में भी प्रोत्साहित करते थे। मुख्याध्यापक

त्रिलोकीनाथ जी, श्री मुनीश्वरदेव जी छात्रों के साथ बालींबॉल, फुटबॉल आदि खेलते थे। एक बार नहीं, कई बार जब ब्रह्मचारी हरिद्वार की खेल प्रतियोगिताओं में जीतकर आते थे तो वे शाबाशी देते थे। छात्रों के रस्साकसी में जीतने पर हाथ चूम लेते थे। वह क्या नज़ारा होता था, उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। धन्य था वह समय।

आज हम काल की कुटिल गति के साथ चलते हुए देखते हैं कि कुछ छुट–पुट उपलब्धियो को छोड़कर १९७० के दशक पश्चात् खेलो में गिरावट सी ही आती चली गयी। यद्यपि इस समय विश्वविद्यालय–विभाग का क्रीड़ा विभाग है। उसका अपना बजट है। क्रीड़ा निदेशक है। किन्तु खेलों में कोई बड़ी उपलब्धि हम हासिल नहीं कर पा रहे हैं। किसी खेल की कोई अच्छी टीम नहीं है। विद्यार्थियों की सख्या भी कम नहीं है। विश्वविद्यालय के पास कोई अपनी व्यायामशाला भी नहीं है। फुटबॉल का कोई विस्तृत ग्राउण्ड नहीं है। हॉकी ग्राउण्ड पर गमी छायी रहती है। यही हाल विद्यालय–विभाग का है। व्यायामशाला है किन्तु उसमें व्यायाम करने के उपकरण नहीं। ग्राउण्ड है पर कोई व्यवस्था नहीं। तैराकी के लिए गंगनहर पर 'मोती घाट' है, पर कोई तैराक नहीं। डूब जाने का डर सताता है तो एक 'स्वीमिंग पुल' बनाइये। अर्थ की कोई कमी नहीं है। अपिं च, गुरुकुल की बीघो भूमि बेची गयी, वह २–३ वर्षो से बंजर पड़ी है। क्या कोई रीति–नीति निकाल कर , सरकारी सहयोग लेकर, उस पर एक विशाल **"स्वामी श्रद्धानन्द खेल स्टेडियम"** नहीं बनवाया जा सकता। मन्थन करें।

वस्तुत: खेलो के प्रति एक निरन्तरता, लगन, प्रतिबद्धता, अभ्यास, आस्था और एक सकल्प की आवश्यकता है। छात्रों की अच्छी टीमें बने यह अपेक्षित है। खेलों में गुरुकुल का फिर नाम रोशन हो, आवश्यक है। चयन हो जाने या ड्रैस पहनने मात्र से कर्त्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता। मैदानों में एक जीवनीय शक्ति की आवश्यकता है। खेलों या व्यायाम के प्रति उपेक्षा का भाव गुरुकुल की उस मूलभूत प्रतिबद्धता की अनदेखी करता है, जिसका जिक्र स्वामी जी ने १९०२ से ०७ के वार्षिक वृत्तान्त में अंकित किया था। यही नही १९५९ की एक पुस्तिका में व्यायाम के विषय में अधिष्ठाताओं को निम्न निर्देश भी गौर तलब है– "ध्यान रखना चाहिए कि ब्रह्मचारी प्रात: व सायंकाल पूरे समय तक व्यायाम करते है कि नहीं और कोई विद्यार्थी व्यायाम में आलस्य तो नहीं करता ? और क्या वह उतना ही व्यायाम करते है जो उनके शरीर तथा आयु के अनुकूल है ? इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए।" आइये विचारें और आगे बढ़े।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।। कालिदास।।"

महावीर "नीर" विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

* १०० वर्ष की नामावली निर्माणाधीन से साभार

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य-व्यवस्था

प्राचीन राज्य व्यवस्था उतनी ही पुरानी हैं जितनी कि यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और धर्म हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में राज्य व्यवस्था को राजधर्म,[१] राजनीति, राज्यशास्त्र,[२] दण्डनीति,[३] नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।[४] अधिकांश प्राचीन ग्रंथों में यह उल्लेख आता है कि प्रारम्भ में लम्बे काल तक कोई शासन व्यवस्था नहीं थी। परन्तु आगे कठिनाइयां आने पर प्रज्ञा ने अपने ही किसी व्यक्ति को शक्ति देकर राजा बना दिया। 'अथर्ववेद' में उल्लेख हैं कि प्रारम्भ में समस्त जनपद व राष्ट्र विराट अर्थात् राजा से रहित था। इस कारण प्रज्ञा भयभीत थी कि क्या यह ऐसा ही रहेगा।[५] इस भय से मुक्ति के लिए राजा का चुनाव किया गया। 'मनु' ने लिखा है कि –"जब सभी भयाकुल हो, इधर–उधर दौड़ने लगे और विश्व में कोई स्वामी नहीं था तब विधाता ने इस विश्व की रक्षा हेतु राजा का प्रणयन किया।"[६] किन्तु 'ऐतरेय ब्राह्मण' में उल्लेख है कि देवों ने राजा के न रहने पर अपनी दुर्दशा देखी और तभी एकमत से उसका चुनाव किया। अर्थात् प्रज्ञा ने स्वंय राजा चुना।[७] पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पहला आर्य राजा वैवस्वत मनु को चुना गया था।[८]

प्राचीन भारत में अनेक शासन प्रणालियां प्रचलित रही हैं। इन सभी शासन पद्धतियों का इतिहास वैदिक काल से उपलब्ध होता है। किन्तु वैदिक काल और महाकाव्यों के काल का राजनीतिक इतिहास निश्चित और क्रमबद्ध रूप से सुलभ नहीं हैं। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले राज्य–व्यवस्था पर कोई ग्रंथ विशेष नहीं लिखा गया था। अत: प्राचीन भारत की शासन पद्धति के विषय में जो भी जानकारी प्राप्त होती है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य यथा वेदों, ब्राह्मणों, धर्म–सूत्रों, धर्म–शास्त्रों, उपनिषदों, पुराणों, महाकाव्यों, जैन–बौद्ध ग्रंथों, कतिपय ऐतिहासिक और साहित्यिक ग्रंथों से होती हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन भारत की शासन पद्धति पर लिखे गये मूल ग्रंथ यथा– कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, शुक्रनीतिसार आदि विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं।[९]

हिन्दू काल के राजनीतिक इतिहास के विषय में उपरोक्त भारतीय साहित्यिक सामग्री के अतिरिक्त कतिपय जानकारी ग्रीक एवं चीनी लेखकों से भी प्राप्त होती हैं। इसी के साथ भारतीय शासन पद्धति के जानकारी के स्रोतों में पुरातत्व विद्या का भी एक सराहनीय योगदान सिद्ध हुआ हैं। कतिपय पुरातात्विक स्रोतों ने भी भारतीय शासन पद्धति के विषय में सुदृढ़ प्रमाण दिये हैं। पुरातत्व में प्राचीन अभिलेखों, मुद्राओं, प्राचीन खण्ड़हरों एवं स्मारकों का अध्ययन सम्मिलित हैं।[१०]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शासन पद्धति के विषय में हमें इस प्रकार के साधनों से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। प्राचीन राज्य व्यवस्थाओं की व्यापक जानकारी के सम्बन्ध में 'डॉ. जायसवाल' का कथन है कि "हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन मुख्यत: हिन्दू साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते हैं। वैदिक, संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथों और इस देश के शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों में हमें इस विषय की बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं।"[११]

कौटिल्य अर्थशास्त्र–एक सामान्य परिचय

प्राचीन भारत के राजशास्त्रियों में कौटिल्य का स्थान सबसे ऊँचा हैं। कौटिल्य को शासन कला और कूटनीति का महान प्रतिपादक माना जाता हैं। 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' राजनीति शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। 'सेलेटोरे' के अनुसार–"प्राचीन भारत की राजनीतिक विचार धाराओं में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।"[१२]

कौटिल्य की यह विचार धारा उनके गहन अध्ययन और चिन्तन का परिणाम थी। वह स्वयं अर्थशास्त्र के विषय में कहते हैं–"पृथ्वी की प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिए पुरातन आचार्यों ने जितने भी अर्थशास्त्र विषयक ग्रंथों का निर्माण किया, उन सबका सार–संकलन कर अर्थशास्त्र की रचना की गई है।"[१३] आज अर्थशास्त्र से आशय केवल इकोनोमिक्स अर्थात् धनविषयक ज्ञान से लिया जाता है, जिसे प्राचीन काल में वार्त्ताशास्त्र के नाम से पुकारा जाता था।[१४] कौटिल्य काल में अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, न्याय शास्त्र, युद्धशास्त्र आदि को सम्मिलित किया जाता था।[१५] 'कौटिल्य के अनुसार पृथ्वी के लाभ एवं पालन के लिए उपायों का विवेचन करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र है।'[१६] अर्थशास्त्र के प्रथम आचार्य देवगुरु बृहस्पति थे। वात्सायन ने अपने 'कामसूत्र' में बृहस्पति के अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है।[१७] आचार्य कौटिल्य को चाणक्य और विष्णुगुप्त के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। चणक पुत्र होने के कारण उन्हें चाणक्य और कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण कौटिल्य कहा जाता है। कौटिल्य का वास्तविक पितृ–प्रदत्त नाम विष्णुगुप्त है।[१८] अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ही हैं और इसकी रचना ईसा से लगभग तीन शताब्दी पूर्व हुई।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य–व्यवस्था

कौटिल्य अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीति का सबसे अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक एवं विस्तृत ग्रंथ है, जिससे तत्कालीन राजनीतिक विचारों और संस्थाओं का व्यापक परिचय प्राप्त होता है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कहा है कि राज्य से पूर्व समाज में मात्स्य न्याय फैला हुआ था। मात्स्य न्याय अर्थात् 'बली दुर्बल को दबा बैठता है।'[१९] कौटिल्य का कहना है–"जब दण्ड का प्रयोग नहीं होता तब मात्स्य न्याय की दशा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि दण्डधर के अभाव में बलवान व्यक्ति दुर्बल को खा डालता है।"[२०]

कौटिल्य ने यह भी कहा है कि मात्स्य न्याय से अभिभूत होकर लोगों ने मनु वैवस्वत को अपना राजा बनाया।[२१] इस प्रकार कौटिल्य ने मात्स्य न्याय की पूर्ण विवेचना की है। इसी भांति महाभारत तथा अन्य लोगों ने भी की हैं।[२२] कौटिल्य मानते हैं कि राज्य मनुष्यों से मिलकर बनता है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि—"मनुष्यों से रहित जनपद राज्य नहीं होता है।"[२३] कौटिल्य ने राज्य की सात प्रकृतियां स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड़ और मित्र मानी हैं।[२४] कौटिल्य ने राज्य की विभिन्न प्रकृतियों का उल्लेख किया हैं। उन्होंने राजा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसको कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी माना है। उसके बाद मंत्रियों का नाम लिया गया है, जो राजा को परामर्श देते हैं और शासन कार्यों को संचालित करते हैं। दुर्ग को राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक माना गया हैं, जबकि जनपद या भूभाग राज्य के अस्तित्व का एक भौतिक आधार हैं। कोष राज्य की जनता की सुख व समृद्धि के लिए अनिवार्य हैं। दण्ड़ के बिना राज्य में शान्ति व्यवस्था नहीं की जा सकती। इन सबके अतिरिक्त मित्र राज्यों का होना राज्य के अस्तित्व एवं सुरक्षा के लिए जरूरी माना गया हैं।[२५] आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था न केवल विशाल मौर्य साम्राज्य को नियन्त्रित करती थी बल्कि दूरदर्शन वाले स्थानों का भी प्रभावी प्रशासन करती थी। 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' राज्य संचालन के लिए सदियों तक एक मार्गदर्शक ग्रंथ रहा है। 'बी.ए. सेलेटोरे' के अनुसार —"प्राचीन भारत की राजनैतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।"[२६]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा एवं प्रज्ञा

प्राचीन भारतीय मनीषी ही नहीं बल्कि यूरोपीय विचारक भी राजा एवं राज्य की उत्पत्ति से पूर्व ऐसी समाज व्यवस्था की कल्पना करते हैं, जिसमें प्रज्ञा नैतिक मूल्यों का अनुसरण करते हुए जीवनयापन करती थी। पहले न राज्य था न राजा था, न दण्ड़ था न दाण्ड़िक (दण्ड़ देने वाला) था। धर्म से ही सब प्रज्ञा परस्पर एक दूसरे की रक्षा करती थी।[२७] राज्य एवं राजा की उत्पत्ति से पूर्व की यह स्वप्रेरित व्यवस्था चिर—स्थायी न रह सकी, कालान्तर में उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गये। समाज को एक भयावह स्थिति का सामना करना पड़ा, जिसके गर्भ में से राज्य एवं राजा की उत्पत्ति हुई। कौटिल्य ने राजा को ही राज्य कहा हैं।[२८] प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा की उत्पत्ति को राज्य की उत्पत्ति का आधार माना है। इन्होंने राजा एवं राज्य की उत्पत्ति में कोई अन्तर नहीं किया है।[२९]

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने राजा या राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समय—समय पर अनेक विचार प्रस्तुत किये, जिनको विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में प्रतिपादित किया गया।[३०] जो निम्नांकित है—१. दैवीय सिद्धान्त, २. ऋषियों द्वारा राजा की नियुक्ति का सिद्धान्त, ३. सुरक्षा का सिद्धान्त, ४. कर्म का सिद्धान्त, ५. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, ६. विकासवादी सिद्धान्त।

कौटिल्य ने राजा को मानव जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण, आवश्यक एवं कल्याणकारी संस्था माना है। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को व्यक्त किया हैं। अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के १२ अध्याय में स्पष्ट उल्लेख है कि जैसे छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती हैं, इसी प्रकार प्राचीन काल में बली दुर्बल को दबा बैठता हैं। इसी मात्स्य न्याय से अभिभूत प्रज्ञा ने मिलकर वैवस्वत् मनु को अपना राजा नियुक्त किया।[31] उन्होंने राजा को कृषि उपज का छठा भाग, व्यापार की आय का दसवां भाग देने का निश्चय किया। इसके बदले में राजा ने प्रज्ञा के कल्याण का दायित्व अपने ऊपर लिया। यही कौटिल्य द्वारा उल्लिखित राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त था।

कौटिल्य ने राजा की आवश्यकता और महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि राज्य के सप्तांगो में राजा का स्थान सर्वोपरि है। राजा ही राज्य का मूल स्रोत है। राज्य की शासन प्रणाली में राजा शासन की धुरी होता हैं। शासन का सक्रिय संचालन और शासन को गति प्रदान करना राजा का एकमात्र लक्ष्य होता है। जिस राज्य में राजा द्वारा प्रज्ञा को रक्षण प्रदान किया जाता है, ऐसे राज्य में सब प्रकार की उन्नति होती है।[32] कौटिल्य के अनुसार राजा के १६ गुण इस प्रकार हैं– "देवबुद्धि, दूरदर्शी, धैर्य–सम्पन्न, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, उत्साही, उच्चाभिलाषी, शीघ्र कार्य करने वाला, दृढ़ बुद्धि, कर्त्तव्य निपुण, सर्वगुण सम्पन्न, शास्त्र बुद्धि से युक्त, शौर्ययुक्त, सांमतों को वश में करने वाला।"[33]

वैदिक साहित्य में उल्लेख आता है कि प्रज्ञा की रक्षा करना, उसे धर्म पर चलाना, सुख सम्पत्ति और न्याय प्रदान करना तथा दुष्टों को दण्ड देना राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं।[34] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा के इन्हीं कर्त्तव्यों पर बल दिया गया हैं।[35] कौटिल्य के अनुसार प्राचीन काल से ही राजा को कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए बहुत से अधिकार प्राप्त थे। वस्तुत: कर्त्तव्यों का प्रतिपालन ही अधिकारों की परिणति होता है। अत: बहुत से कर्त्तव्यों में से ही अधिकार प्रतिध्वनित होते हैं।

आचार्य कौटिल्य ने राजा एवं प्रज्ञा के सम्बन्ध को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतलाया हैं। कौटिल्य का राजा प्रज्ञावत्सल हैं। अत: प्रज्ञा रूपी शिशु के पालन के लिए ही राजा ही उत्तरदायी हैं।[36] कौटिल्य ने प्रज्ञा से राजा का सम्बन्ध इन्द्र और यम के रूप में भी स्थापित किया हैं। राजा इन्द्र के समान प्रज्ञा के अनिष्ट का निवारण करता है और यम के समान उसको दण्ड देता है।[37] कौटिल्य ने राजा को प्रज्ञा के लिए एक आदर्श माना हैं। उसका आदर्शचरित्र प्रज्ञा हेतु अनुकरणीय होना चाहिए। कौटिल्य ने वास्तविक अर्थों में राजा एवं प्रज्ञा का सम्बन्ध पिता और पुत्र की भांति बताया हैं।[38]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में शासन प्रणाली

प्राचीन काल में शासन पद्धति का प्रचलित रूप राजतन्त्र था। इसीलिए आचार्य कौटिल्य ने राजा को सर्वोच्च एवं शक्तिशाली स्वीकार करते हुए शासन की आधार–शिला माना हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित शासन प्रणाली के अन्तर्गत मंत्रि–परिषद् का एक अहम् स्थान था। जिसकी सहायता से राजा राज्य के सभी कार्य सम्पन्न करता था। कौटिल्य ने मंत्रियों को राज्य रूपी गाड़ी का दूसरा पहिया माना हैं, जिसके अभाव में अकेला पहिया अर्थात् राजा गाड़ी को आगे नहीं बढ़ा सकता। मंत्रि–परिषद् के सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार है कि "राजा को तीन अथवा चार मंत्रियों से मंत्रणा करनी चाहिए।" कौटिल्य ने मंत्रि–परिषद् की मंत्रणा को गोपनीय रखने की भी बात कही हैं क्योंकि मंत्रणा का फूट जाना राजा और मंत्रि–परिषद् दोनों के लिए घातक हैं।[३९] कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार शासन प्रणाली में मंत्रि–परिषद् के अतिरिक्त अन्य शासकीय अधिकारी भी थे यथा–पुरोहित (कौटिल्य की शासन व्यवस्था में पुरोहित का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जिसकी योग्यता निर्धारित की जाती थी।) कौटिल्यानुसार –"पुरोहित उच्चकुलोत्पन्न, शील गुण सम्पन्न, वेद वेदांगों का ज्ञाता, ज्योतिष शास्त्र में निपुण एवं दण्ड़नीति में पारंगत हो।"[४०] पुरोहित के अतिरिक्त युवराज, सेनापति, मंत्रि इत्यादि।

कौटिल्य ने स्थानीय प्रशासन के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए राज्य के दो महत्त्वपूर्ण भाग बताये हैं–दुर्ग और जनपद। **कौटिल्य** ने दुर्ग को पुर अथवा नगर का पर्यायवाची माना है। कौटिल्यानुसार दुर्ग को चार भागों में बांटा जाना चाहिए और प्रत्येक भाग के लिए एक स्थानिक नाम का कर्मचारी नियुक्त किया जाना चाहिए। स्थानिक के अधीन गोप नामक कर्मचारी रखे गये है। स्थानीय प्रशासन का दूसरा अंग जनपद था। कौटिल्य के अनुसार "जनपद ऐसा हो, जिसके बीच में तथा सीमान्तों मे किले बने हो, जिसमें यथेष्ठ अन्न पैदा होता हो, विपत्ति के समय वन पर्वतों द्वारा आत्म रक्षा की जा सके, जो कंकर–पत्थर तथा जंगली जानवरों से रहित हो, जो नदी–तालाबों से सुसज्जित हो, जो लकड़ियों तथा हाथियों से युक्त हो, जहाँ की जलवायु उत्तम हो।"[४१] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ग्राम प्रशासन का भी उल्लेख है। प्रत्येक ग्राम का एक–एक शासक होता था, जिसको 'ग्रामिक' कहा जाता था। ग्राम प्रशासन के कार्य में ग्रामिक की सहायता के लिए अन्य कर्मचारी भी नियुक्त किये जाते थे।[४२]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्यायिक एवं दण्ड़ व्यवस्था

आचार्य कौटिल्य समुचित न्याय को राज्य का प्राण मानते हैं। उनका दृढ़ मत है कि जो राज्य अपनी प्रज्ञा को न्याय प्रदान नहीं करता, वह शीघ्र नष्ट हो जाता हैं। उनके अनुसार न्याय का उद्देश्य प्रज्ञा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्त्वों को दण्ड़ित करना हैं। कौटिल्य की न्याय–व्यवस्था के अनुसार राज्य के सभी व्यक्ति एक समान माने गये हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्यायाधीश पद हेतु आवश्यक गुण और योग्यताओं का प्रतिपादन किया गया है। अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि –"पूर्ण विद्वान्, पवित्र कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्त्तव्य में सावधान व्यक्तियों को ही न्यायाधीश बनाना चाहिए।"[43] समस्त न्यायिक कार्यवाहियां राजा के नाम से होती थी। अत: न्याय की सर्वोच्च सत्ता राजा ही था। जो प्रत्येक मामले में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार रखता था। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख है– १. धर्मस्थनीय न्यायालय, २. कंटक शोधन न्यायालय ।

धर्मस्थनीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ एवं कण्टक शोधन न्यायालयों के न्यायाधीश प्रवेप्टा कहलाते थे।[44]

कौटिल्य के अनुसार राजा को इन न्यायाधीशों के पदो पर उन्हीं अमात्यों को नियुक्त करना चाहिए जो कुशल ज्ञानवान और शुद्ध चरित्र लिये हुए हो। कौटिल्य अर्थशास्त्र में दण्ड व्यवस्था का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। आचार्य कौटिल्य ने राज्य में अनुशासन रखने के लिए ही दण्ड का प्रभावी विधान किया है। दण्ड कौटिल्य की न्याय व्यवस्था का व्यावहारिक पक्ष है। उनके अनुसार न्याय की अवस्थिति दण्ड पर निर्भर है। चारों वर्णो, आश्रमों के लोग अपने–अपने धर्म (कर्त्तव्य) का पालन करें और सदाचार में प्रवत्त रहें, यही कौटिल्य की दण्ड व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य है। आचार्य कौटिल्य का मत है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये छ: शत्रु कभी भी मनुष्य को उत्तेजित कर उसको अधर्म और दुराचरण की ओर प्रवृत्त कर देते हैं। अत: इनके नियन्त्रण के लिए दण्ड की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार कौटिल्य ने धर्म और सदाचार की अवरोधक शक्तियों के दमन हेतु दण्ड की व्यवस्था की है। कौटिल्य के अनुसार राजा ही मुख्यत: दण्ड देने का अधिकारी होता है। लेकिन उसका दण्ड निष्पक्ष, स्वार्थ रहित एवं न्यायोचित्त होना चाहिए। उसके दण्ड में पुत्र और शत्रु का भेद नहीं होना चाहिए। क्योंकि ऐसा दण्ड ही लोक और परलोक दोनों की रक्षा करता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में गुप्तचर एवं रक्षा (सैन्य) व्यवस्था

आचार्य कौटिल्य ने राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु गुप्तचर व्यवस्था को राज्य के लिए आवश्यक बतलाया है। उनके अनुसार "किसी एक राज्य की रक्षा चरों के उपयोग पर निर्भर होती है।"[45] कौटिल्य ने राज्य व्यवस्था में सहायक ९ प्रकार के गुप्तचरों का वर्णन किया है। इन गुप्तचरों को कौटिल्य ने दो श्रेणियों में बांटा है– १. स्थायी गुप्तचर, २. भ्रमणशील गुप्तचर। आचार्य कौटिल्य के अनुसार "एक देशभक्त, विश्वास पात्र, वाकपटु तथा वेष बदलने में निपुण व्यक्ति को ही गुप्तचर नियुक्त करना चाहिए।" कौटिल्य ने गुप्तचरों के कर्त्तव्यों का भी विधान किया है। जैसे–प्रज्ञा के सुख, दु:ख की सूचना राजा को देना, प्रज्ञा के द्वारा राजा के विरुद्ध रचित षड़यन्त्रों की सूचना राजा तक पहुंचाना, राजा के परिजनों के चरित्र की राजा को

नियमित जानकारी देना, शत्रु के राज्य के विषय में सभी बातें पता कर राजा को सूचित करना, शत्रु के राज्य में जाकर फूट डालना तथा उन्हें उनके राजा के विरुद्ध भड़काना इत्यादि। इस प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य व्यवस्था में गुप्तचरों के योगदान को सराहनीय कहा जा सकता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र की राज्य व्यवस्था में रक्षा व्यवस्था अर्थात् सैन्य संगठन भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। कौटिल्य ने सैन्य शक्ति को सुरक्षा और शान्ति का महत्त्वपूर्ण साधन बतलाया हैं। इनके अनुसार–"सैन्य शक्ति सम्पन्न राजा के मित्र तो मित्र बने ही रहते हैं, उसके शत्रु भी मित्र बन जाते हैं।"[८७]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि सैन्य शक्ति उच्च कोटि की राज्य व्यवस्था और राज्य की आर्थिक सुदृढ़ता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कौटिल्य ने सेना के ६ प्रकार बतलाये हैं–१. वंश परम्परागत सेनायें, २. भाड़े की सेनायें, ३. लड़ाकू सेनायें, ४. मित्र देश की टुकड़ियां, ५. शत्रु देश की टुकड़ियां तथा ६. जंगली जातियों की सेनायें इत्यादि।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है कि सेना में वंशानुगत लोगों को ही भर्ती किया जाये जो स्थायी रूप से रह सके। जिनके स्त्री–बच्चे राजवृत्ति पाकर सन्तुष्ट हो। युद्ध के समय जिनको आवश्यक सामग्री से लैस किया जा सके। जो कभी हार न खाते हो, दुःख को सहन कर सके, युद्ध कौशलों से परिचित हों, हर प्रकार के युद्ध में निपुण हों। सबसे अहम बात यह है कि राजा के लाभ और हानि में हिस्सेदार बने। इन सभी गुणों से युक्त सेना ही दण्ड सम्पन्न है। कौटिल्य ने सैनिकों के व्यक्तिगत निर्वाह के साथ–साथ उनके परिवार के सदस्यों की यथोचित्त देखभाल को राज्य का उत्तरदायित्व बताया है।. कौटिल्य ने अन्य आचार्यो का यह मत कि जो सैन्य दल क्रम से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शुद्रों द्वारा गठित होते हैं वे उसी क्रम से अच्छे कहे जाते हैं, नहीं माना है। उनके अनुसार सुन्दर ढंग से प्रशिक्षित क्षत्रियों का दल या वैश्यों या शुद्रों का दल ब्राह्मणों के सैन्य दल से कहीं अधिक अच्छा होता है, क्योंकि शत्रु लोग ब्राह्मणों के चरणों में झुककर उन्हें अपनी ओर कर सकते है।[८८] राजा की सेना के प्रबन्ध आदि के विषय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विशद् वर्णन मिलता है। यथा–सेना प्रबन्ध कैसा हो, आक्रमण के लिए प्रस्थान कब और कहां होना चाहिए, बाह्य या आन्तरिक आपत्तियां दूर करने के क्या उपाय हैं, देशद्रोहियों और शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, शिविर आदि की व्यवस्था कैसी हो इत्यादि।[८९] इसी भांति सेना के निवास स्थान, बेगार, व्यूह रचना आदि पर विशद् वर्णन मिलता है।

इस प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य व्यवस्था के अध्ययन से एक कल्याणकारी राज्य की धारणा उजागर होती है। आचार्य कौटिल्य की राज्य व्यवस्था में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था को एक सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कौटिल्य ने कहा है कि "सभी प्रकार की सामाजिक धारणाओं एवं धर्म का पालन करते हुए तथा

अर्थ का सवर्धन करते हुए राज्य का संचालन किया जाना चाहिए।"[21] क्योंकि इनका अनुकरण राज्य और समाज को वैभव सम्पन्न बनाने के लिए नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि आचार्य कौटिल्य जैसे महान मनीषी द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त वर्णित किये गये हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, और वे आज भी निराशा के अंधकार में आशा के दीप जलाते हैं।

डॉ. दीपा गुप्ता
प्रवक्ता,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति
एवं पुरातत्व विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

सन्दर्भ

१. मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक नं. १, वोल्यूम II, (प्रकरणम्—राजधर्मव्याख्या) पृष्ठ संख्या—१, सम्पादक— महामहोपाध्याय गंगानाथ झा।
२. महाभारत, शान्ति पर्व, १, ५८—६३
३. हिन्दू धर्म कोश,डॉ. राजबलि पाण्डेय, पृ. सं. ३१०,३११
४. कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थायें, डॉ. कमलेश अग्रवाल, पृ. सं. १
५. विरड् वा इदमग्र आसीत्। तस्या जातायाः सर्वभवि भेदेय भेवेदं भवष्यति।। अथर्ववेद १.१०.८
६. मनुस्मृति, ७/३
७. ऐतरेय ब्राह्मण, १/१४
८. कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थायें, डॉ. कमलेश अग्रवाल , पृ. सं. १
९. पूर्ववत्, पृ. सं. १
१०. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं सस्थायें, डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा, पृ. स. १७
११. हिन्दू राजतन्त्र, रामचन्द्र वर्मा (अनुवादक—हिन्दू पॉलिटि, डॉ. जायस्वाल) खण्ड १, पृ.सं. ५०
१२. एंसिएंट इंडियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इंस्टीटयूशनस, बी. ए. सेलेटोर, पृ. सं. ५०
१३. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्— १.१
१४. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्— १.२
१५. पूर्ववत्— १.१
१६. पृथिव्यः लाभंपालनोपायः शास्त्रमथे शास्त्रमिति, कौटिल्य अर्थशास्त्र— १५—१
१७. कामसूत्र, वात्सायन— १.४
१८. कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति को राज्य व्यवस्थायें, डॉ. कमलेश अग्रवाल, पृ. सं. १९
१९. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् — १/४
२०. बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे, कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्— १/४
२१. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रज्ञा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे, कौ. अर्थ. १/१२

२२. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ. पांडुरंग वामन काणे, वोल्यूम II पृ. सं. ५८६
२३. न ह्यजनों जनपदों राज्यम्— प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एव संस्थायें, परमात्मा शरण, पृ. स. १५७
२४. स्वाम्यमात्यजनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्रताणि प्रकृतय., कौटिल्यम् अर्थशास्त्रम्, ६/१, पृ. सं. २५७
२५. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा, पृ. सं. ८९
२६. एंशिएंट इंडियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इंस्टीट्यूशन्स—बी.ए. मेलेटोरे, पृ. सं. १४९
२७. नैव राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिक:, धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।। महाभारत, शान्तिपर्व, ५९.१४
२८. कौटिल्य अर्थशास्त्र—८.२
२९. शुक्रनीति में राजनीतिक विचार एव संस्थाये, डॉ. पद्मनाभ शर्मा, पृ. सं. १५
३०. प्राचीन भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा, पृ. सं. १९८—२१६
३१. कौटिल्य, अर्थशास्त्र १/१२
३२. कौटिल्य अर्थशास्त्र एव शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थायें, डॉ कमलेश अग्रवाल, पृ. सं. ४२,४३
३३. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, ६.१
३४. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ पी.वी. काणे, वो. II पृ. सं. ६०१
३५. कौटिल्य , अर्थशास्त्र, २.१
३६. कौटिल्य का युद्ध दर्शन, डॉ लल्लन जी सिंह, पृ सं ५०
३७. कौटिल्य, अर्थशास्त्र १ १२
३८. पूर्ववत्
३९. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला, १/१४
४०. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला, १/८
४१. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला, २/१
४२. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ.सं. २२४
४३. कौटिल्य अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला, १/९
४४. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला, ४/१
४५. फिलास्फी ऑफ धर्मस्, जे. एन. गांगुली, वोल्यूम II पृ. स. १५
४६. कौटिल्य, अर्थशास्त्र— १/१९
४७. कौटिल्य, अर्थशास्त्र— ८/१
४८. कौटिल्य, अर्थशास्त्र— ९/२
४९. कौटिल्य, अर्थशास्त्र— (९/१—७ एवं १०/१—६)
५०. कौटिल्य कालीन भारत, आचार्य दीपंकार, पृ. सं १२२, १२३

कालिदास कृत कुमारसंभव एवं जयशेखरसूरि कृत जैनकुमार संभव में त्रिवर्गसाधन

समाज साहित्य मे प्रतिबिम्बित होता है। कवि या लेखक शून्य में काव्य रचना नही करता। बाह्य वातावरण एवं उसमें घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव व्यक्ति तथा समाज के साथ—साथ काव्यकार की अन्तराल की भित्ति पर गहराई से उत्कीर्ण हो जाता है। बाबू गुलाबराय ने साहित्य एवं समाज के विषय में लिखा है— कवि और लेखक किसी अंश में समाज के प्रतिनिधि होते है और किसी अंश में वे समाज को अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के आधार पर नये भाव और विचार प्रदान करते है। समाज कवि और लेखकों को बनाता है और लेखक तथा कवि समाज को बनाते हैं। दोनों में आदान प्रदान तथा क्रिया प्रतिक्रिया का भाव चलता रहता है। यही सामाजिक उन्नति का नियामक सूत्र बनता है।[1] समाज निर्माण एवं सांस्कृतिक उत्थान का मार्ग प्रदर्शित करने मे साहित्य से अमोघ सहायता ली जा सकती है।[2]

कवि की रचना में तत्कालीन समाज के आचार—विचार, रीति—रिवाज की अभिव्यक्ति अवश्य रहती हैं। साहित्य समाज या मानव जीवन की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता। मनुष्य का जीवन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही सार्थक है। समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज व्यक्तियों का वो समूह कहा गया है जो पारस्परिक सम्बन्धों एवं व्यवहार के तरीकों द्वारा एकीभूत हुआ है।[3] सामाजिक सम्बन्ध व्यवहार पर आधारित हैं और सभी व्यवहार पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में समाहित हैं। यही चतुष्टय व्यष्टि और समष्टि का धारक तत्त्व है।

वह व्यक्ति अथवा समाज ही क्या! जिसके पास व्यक्तित्व को धारण करने वाले वृत्त, शील तथा सदाचार न हो, देह को धारण करने वाले ब्रह्मचर्य, तप, संयम, श्रम, दम तितिक्षादि आचार न हो मन को धारण करने वाले संकल्प, श्रद्धा और उत्साह न हों तथा बुद्धि के धारक ऊहा, तर्क, विवेक व्युत्पन्ता प्रभृति गुण न हों।

यहाँ चर्चा उन दो समाजों की अभीष्ट है जो संस्कृत के महाकवि कालिदास तथा श्रमण—संस्कृति के परिचायक जैन कवि जयशेखर सूरि के समान नामधारी महाकाव्य कुमारसंभव तथा जैनकुमार संभव में प्रतिष्ठित है।

कालिदास का समय गुप्तकाल माना जाता रहा है।[4] उनकी कृतियों के सम्बन्ध में मेक्डोनल का कथन है कि कालिदास की कविता में भारतीय प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप समाविष्ट है। उनके काव्य

में ऐसा सामंजस्य है जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। कालिदास के समय को हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान काल कहा गया है। रामायण से लेकर कालिदास के युग तक आते–आते देश के सामाजिक धार्मिक ढांचे में काफी उथलपुथल हुई। हिन्दू धर्म के परम्परागत रूप में भी परिवर्तन हुआ। कालिदास भारतीय संस्कृति के पोषक कहे गये है। वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ, वैदिक देवी–देवता, पौरोहित्य कर्म उनके समाज में पूर्णप्रतिष्ठित थे। कालिदास समाज की प्रगति के प्रतिपादक रहे हैं। कवि का समाज श्रुति–स्मृति रामायण आदि में निर्दिष्ट आदर्श समाज पद्धति पर आधारित हैं।

संस्कृत भाषा में लिखे गये प्रचुर साहित्य संरचना में ब्राह्मणेतर जैन कवियों का भी विशेष योगदान रहा है, यद्यपि उनका मुख्य लक्ष्य जैन धर्म एवं आचार संहिता को व्यापक तथा लोकप्रिय बनाना रहा है। अपने धर्म को व्यापक एवं जनप्रिय बनाने तथा आत्म–कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जैन कवियों ने आदि तीर्थकरों तथा महापुरुषों के चरित को अपनी रचनाओं का आधार बनाया। अत: इनकी रचनाओं में धार्मिक विचारधारा स्पष्ट दिखलाई देती है। जैन कुमारसंभव में आदि तीर्थकर ऋषभदेव के विभिन्न जन्मों में सम्पादित चरित को स्तुतियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जयशेखर सूरि पर कालिदास का प्रभाव बहुत है और वे उसकी कृति कुमारसम्भव से विशेष रूप से प्रभावित हैं।

भारतीय समाज पुरुषार्थ–चतुष्टय पर आधारित है। उभयकवियों के समय में लगभग १० शताब्दियों का अन्तर है। अत: इस काल व्यवधान को ध्यान में रखते हुए उनके काव्यों में वर्ग चतुष्टय में से त्रिवर्ग की अर्थात् धर्म, अर्थ, काम की समीक्षा यहाँ इष्ट है। मोक्ष दर्शन का प्रतिपाद्य है। संस्कृति के विश्लेषण में दर्शन जैसे गहन विषय को लाना सामाजिक चेतना में विघात उत्पन्न कर सकता है। मानव जीवन में एक के पश्चात् दूसरा और तदुपरान्त तीसरा पुरुषार्थ प्रवेश करता है। अन्तत: तीनों समाज रूप से मिलकर ही उसके जीवन को सन्तुलित बनाते हैं। वात्स्यायन ने धर्म, अर्थ, काम के सन्तुलन की बात कहकर मानव जीवन विधि का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही उन्होंने त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) को नमस्कार किया है। कौटिल्य ने भी 'धर्म और अर्थ के अनुकूल होकर काम का सेवन किया जाये' ऐसा कहा है। कामन्दकी ने भी सत्य प्रकट किया है, 'धर्मादर्थो अर्थत: कामा कामात्सुखफलोदय:।' समाज में सामाजिक सम्बन्ध एवं व्यवहार सन्तुलित हो जाये तो एक स्पृहणीय समाज की स्थापना संभव है।

समाज रचना में धर्म का स्थान प्रथम है।[13] धर्म वह तत्त्व है जो अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्ति में मूर्धन्य स्थान ग्रहण करके उन्हें पुण्य, सुकृत् श्रेयस् तथा कामनापूरक बना सकता है। इसी कारण आचार्यों ने इसे अभ्युदय एवं निश्रेयस् सिद्धि का मूल कहा है।

व्याकरणानुसार धर्म शब्द 'धारण करने' अर्थ वाली धृ धातु में मन् प्रत्यय लगाने से

निष्पन्न होता है जिसके अनेक अर्थ हैं। 'ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः' अर्थात् जिससे लोक धारण किया जाये, धरति धारयति वा लोकम् जो लोक को धारण करे, ध्रियते यः स धर्मः जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाये। महाभारत में भी धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है धारणात् धर्मत्याहुर्धर्मेण विधताः प्रजाः' अर्थात् धारण करना ही धर्म है। धर्म ही है जो समज (पशुरूप) को समाज (मानवसमूह) में रहने की पहचान बताता है। दर्शन, राजनीति, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, शिल्प प्रभृति प्रत्येक क्षेत्र में धर्म एक धारक तत्त्व के रूप में व्यक्ति अथवा समाज को हिमशिखर की ऊँचाई मापने की क्षमता प्रदान करता है और सागर की अतुल गहराइयों में बैठ स्मिताभ मौक्तिकों का चयन करना सिखाता है। अतएव कलाकारों ने कालिदास के ही युग में 'यतोधर्मस्ततोजयः' का मन्त्र ग्रहण किया है।

कवियों, लेखकों की दृष्टि धर्म पर विशेष रूप से केन्द्रित रही है। मानव जीवन के दुःखमय होने से अतिप्राकृत तत्त्वों में विश्वास होना स्वाभाविक है। धर्म शब्द का एक लोकप्रचलित अर्थ 'ईश्वरोपासना की विभिन्न प्रणालियाँ' भी है। वेद में धर्म देवोपासना तथा यज्ञ के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। वैदिक युग के आर्य लौकिक अभ्युदय के लिए देवताओं की स्तुति करते थे तथा यज्ञ मे उनका आह्वान करते थे। देवत्व में विश्वास धर्म की नींव को दृढ़ करता है। वेदों में प्रकृति की विभिन्न शक्तियां मूर्तरूप में अनेक देवताओं के रूप में वर्णित की गई हैं। तत्पश्चात् उन सभी देवताओं में एक ही दिव्य शक्ति को स्वीकार कर एकेश्वरवाद की स्थापना की गई है। कालिदासकालीन समाज में बहुदेववाद बद्धमूल हो चुका था । उनकी रचनाओं मे प्रकृति की भिन्न–भिन्न शक्तियां देवी देवताओं के रूप में वर्णित हैं यथा इन्द्र, वरुण, आदित्य, मरुत्, लक्ष्मी, भद्रकाली, सप्तमातृकायें आदि। ब्रह्मा की स्तुति करते हुए देवगण उन्हें सृष्टि का एक मात्र कारण कहते हैं। शिव की स्तुति करते हुए सप्तऋषि भी उन्हें संसार का निर्माता, पालक एवं संहारक बतलाते हैं। शिवस्तुति से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज मे शिव एक प्रतिष्ठित देवता थे।

जयशेखर सूरि के जैन कुमारसंभव में भी विभिन्न देवी देवताओं का उल्लेख है यथा तुम्बुरुनारद, इन्द्र, वायु, लक्ष्मी, सरस्वती, इन्द्राणी, मातरिश्वा। काव्य के नायक आदि तीर्थकर ऋषभदेव मोक्षमार्ग के पथिक एवं समस्त पाप रूपी मल को नष्ट करने वाले देवताओं के द्वारा पूज्य हैं।

उभयकवियों ने देवाधिपति इन्द्र को कथानायक के साथ सम्बद्ध किया है। कालिदास ने जहाँ इन्द्र के पौराणिक रूप को ग्रहण किया है। तारकासुर से त्रस्त हुए इन्द्र उसके विनाश के लिए शिवपार्वती का विवाह सम्पन्न करवाते हैं क्योंकि इन्हीं से उत्पन्न संतान तारकासुर का वध कर सकेगी वहीं जैन कुमारसंभव के इन्द्र का स्वरूप भी पुराण सम्मत है। महापुराण मे ३२ इन्द्र

की कल्पना की गई है।[३६] उन ३२ इन्द्रों में सौधर्म इन्द्र ही प्रमुख हैं। अवधि ज्ञान सम्पन्न उसी सौधर्मइन्द्र को ऋषभदेव के समस्त कार्य सम्पादित करने वाले देवराज के रूप में जयशेखर सूरि ने वर्णित किया है। आदि तीर्थंकर के इन्द्र सेवक कहे गये हैं।[३७] स्वर्ग में सम्यक् चारित्र सुलभ न होने के कारण अर्हन्त भक्ति ही इन्द्र के लिए कल्याणकारी कही गई है।[३८]

यज्ञ धर्माचरण का एक प्रमुख अंग माना गया है। कर्म काण्ड सम्बन्धी ग्रन्थों में कर्म का अर्थ यज्ञ ही समझा जाता था क्योंकि आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ ही था।[३९] इहलोक में यज्ञों का आयोजन यश एवं अभ्युदय के लिए किया जाता रहा है। महाभारत में राजाओं के लिए राजसूयादि[४०] यज्ञों के अतिरिक्त स्वाध्याय, ज्ञान एवं ध्यान रूपी यज्ञ[४१] का उल्लेख किया गया है। कुमारसंभव में ब्रह्मा को वेदवाणी का कारण तथा यज्ञ को कार्य तथा स्वर्गप्राप्ति को यज्ञ का फल कहा गया है।[४२] यज्ञ में अग्निप्रज्वलन प्रमुख कार्य है। विवाह वेदी में अग्नि प्रज्वलित कर उसकी प्रदक्षिणा वरवधू के द्वारा की जाती है। इसका चित्रण उभय विवेच्य काव्यों में उपलब्ध है।[४३]

वैदिक समाज के यज्ञ ने पुराणों में आकर देवपूजा एवं भक्ति का रूप धारण कर लिया था। भक्ति का यह रूप कुमारसंभव में देवताओं द्वारा की गई ब्रह्मा स्तुति[४४] तथा सप्तऋषियों द्वारा की गई शिवस्तुति में दिखलाई देता है। जयशेखर सूरि के कुमार संभव में जिन–भक्ति की प्रमुखता है जो अपने–अपने युग का परिणाम है। इन्द्र ऋषभदेव की विविध प्रकार से स्तुति करते है।[४५] 'हे नाथ तुम्हारे नाम से उत्कृष्ट कोई जप नही' तुम्हारी उपासना से बढ़कर कोई पुण्य नहीं। तुम्हारी प्राप्ति से बढ़कर कोई मुक्ति नहीं।[४६] जैन सम्प्रदाय में मानुषसृष्टि को पुरुषार्थ साधिका कहा गया है। तीर्थंकरों को मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य लोक में मानव रूप में जन्म लेना पड़ता है और तीर्थंकरों के जन्मादि उत्सव देवताओं के द्वारा मनाये जाते हैं। आदिनाथ ऋषभदेव ने कर्मभूमिस्वरूपा भारत भूमि पर देहधारियों के कल्याण के लिए मानवरूप में जन्म लिया।[४७] पुराणों में भी भारतभूमि को कर्मभूमि कहा गया है।[४८] शुभकर्म ही मानव समाज व जीवन को सुन्दर रूप देने में समर्थ हैं। वैदिक वाङ्मय के मनन से भी ज्ञात होता है कि आर्यों ने जीवन में श्रेष्ठ कर्मों को ही प्रथम स्थान दिया है यही कारण है कि मनु ने आचार को ही धर्म माना है।[४९]

धर्म की प्रभुता उभय काव्यों में द्रष्टव्य है किन्तु अकेला धर्म ही तो व्यक्ति और समाज को अभ्युदय तथा नि:श्रेयस् की सिद्धि नहीं करा सकता इसीलिए आचार्य वात्स्सायन ने शरीर पुष्टि के लिए अर्थ, मन: प्रसादन के लिए काम तथा बुद्धि के लिए विशेष रूप से धर्म को नमन किया है।[५०] पुरुषार्थ त्रय एक भोगापवर्गदायिनी शक्ति है। अथर्ववेद वृहदुग्रतपदीक्षा ब्रह्मयज्ञ को धरा को धारण करने से, धर्म रूप में प्रतिष्ठित करता है।[५१] किसी भी तरह आदर्श समाज की प्रतिष्ठा में भोग को अपवर्ग से पृथक् नहीं किया जा संकता क्योंकि ये दो विरोधी दिखाई देने वाले तत्त्व साथ–साथ रहकर ही सुख–दु:ख, ज्ञान–अज्ञान, संयोग–वियोग हर्षविषादादि द्वन्द्वों की सीमारेखा जान सकते हैं।

'सुखं हि दुःखान्यनुभूयशोभते' केवल भोग क्षय कारक है। यह बात कालिदास ने रघुवंश के अन्तिम राजा के जीवन से स्पष्ट की है। निष्कर्ष यह कि पुरुषार्थ चतुष्टय के समस्त अंग आदर्श रूप में एक दूसरे के पूरक हैं विरोधी नहीं। "The nation is richest which nourishes the greatest number of human being." रस्किन का यह विचार कितना आनन्ददायक एवं मार्मिक है तो क्यों न उभयविध समाज के जीवन की वे शृंखलायें ढूंढी जायें जो उन्हें आनन्दस्वरूप भगवान् के दर्शन करा रहीं हों। आनन्द का अधिष्ठान तो मन है उसके सम्यक् संकल्प को कौन रोक सकता है। तप से दुर्लभ वस्तु सुलभ हो सकती है। महाभारत में भी तपस्या को परम पवित्र कहा गया है।[१२] कुमारसंभव में वर्णित पार्वती तपस्या तप का उत्कृष्ट उदाहरण है। अपने बाह्य सौन्दर्य से शिव को आकृष्ट करने में असमर्थ पार्वती ने तपः समाधि के द्वारा शंकर को प्राप्त करने की कामना की अन्यथा मृत्युजंय शिव व उनका उत्कृष्ट प्रेम कैसे प्राप्त हो सकते थे।[१३] प्रकृति भी अपना सौन्दर्य पुरुष के भोगार्थ समर्पित करती है। धर्म के इसी रूप से पारिवारिक संरचना का उदय होता है।

मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं का पूर्ति करने के लिए समाज पर आश्रित रहना पड़ता है और परिवार ही सामाजिक संगठन की सबसे आनन्दकारी संस्था है। सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन कराने के लिए परिवार मानवीय व्यक्तित्व के विकास में बहुत योगदान देता है। पाश्चात्य देशों में परिवार प्रायः कामेच्छा पूर्ति का साधन होता ह किन्तु भारतीय परिवार का महत्त्व केवल वासना पूर्ति नहीं अपितु यह पुरुषार्थ चतुष्टय का साधन है।[१४]

परिवार संरचना का मूलाधार है काम। यौन सम्बन्धों को नियन्त्रित करना परिवार का मुख्य कार्य है। आत्मा से संयुक्त हुए मन से अधिष्ठित श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और नासिका—इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों की अपने-अपने विषय में अनुकूल रूप में प्रवृत्ति को काम कहते हैं।[१५] यह काम दो रूप वाला है — मर्यादित और अमर्यादित। भारतीय चिन्तन में काम का मर्यादित एवं अनुशासित रूप ही प्रशस्य माना गया है।

विवाह सुखद पारिवारिक जीवन का मूल है। कालिदास के कुमारसम्भव की रचना का प्रमुख प्रयोजन ही भारतीय जीवन में विवाह एवं प्रेम की पवित्रता तथा उसकी आध्यात्मिकता सिद्ध करना ही प्रतीत होता है। दाम्पत्य जीवन के संयमी एवं लोकमंगलकारी स्वरूप को शिव—पार्वती विवाह के माध्यम से प्रतिष्ठित किया है।[१६] जैनकुमारसंभव में भी इन्द्र लोक की दाम्पत्य धर्म में आस्था बनें, इस विचार के साथ ऋषभदेव का विवाह कुलीन कन्याओं के साथ सम्पन्न करवाते हैं।[१७]

पुरुषार्थत्रय (धर्म, अर्थ, काम) का सेवन गृहस्थाश्रम में निराकुल भाव से किया जा सकता

है। कालिदास के शिव तो कामजयी हैं ही, साथ ही जैन कुमार संभव के नायक ऋषभदेव काम में अनासक्त, धर्मार्थ, काम क्रम के ज्ञाता है तथा विवाह के बाद ही पुरुषार्थ रहस्य रूप काम में प्रवृत्त हुए कहे गये हैं।[48] कामसूत्र में काम को आहार के समान कहा गया है और धर्म एवं अर्थ को साधन तथा काम को साध्य कहा है।[49] मानसिक स्वास्थ्य एवं सन्तति परम्परा के लिए काम आवश्यक है। जैन कवि वादीभ सिंह ने पुरुषार्थ त्रय का अविरोध रूप से सेवन करने पर अनुक्रम से मोक्षप्राप्ति कही है।[50] पूर्वजन्म में उपार्जित भोग योग्य कर्मफल को अवश्य ही भोक्तव्य जानकर ऋषभदेव मुक्ति को ही एकमात्र लक्ष्य जानकर पत्नियों के साथ विषयोपभोग में प्रवृत्त होते हैं।[51]

सन्तति के लिए ही शिव व ऋषभदेव विवाह करते हैं। उभय कवियों ने विवाह के बाद ही अपने–अपने नायकों को भोग में प्रवृत्त कराया है। देवताओं की प्रार्थना सुनकर विवाहित शंकर कामदेव को अपने ऊपर बाण चलाने की अनुमति देते हैं।[52] जैनागमों में काम को कुत्सित भावना माना गया है। शठ व धूर्त काम तीर्थंकर ऋषभदेव का सेवक है तथा कदापि उन्हें जीतने की इच्छा नहीं करता[53], घोर वासना रूप काम, जो धर्म व अर्थ का नाशक है,[54] शिव की क्रोधाग्नि में दग्ध हो जाता है। कन्दर्पजयी ऋषभ का विवाह लोककल्याण के लिए इन्द्र के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है अन्यथा काम ऋषभ पर अपने प्रभाव को असफल जानकर जगत् के प्राणियों के प्राणों को हर रहा है।[55]

हिन्दू विचार धारा के अनुसार ब्रह्मा की सृष्टि मानसी होती है। स्थावर व देवसृष्टि से असन्तुष्ट प्रजापति ने मानुष सर्ग का सृजन किया क्योंकि देवसर्ग में भी प्राणी विषय सुख की प्रीति से युक्त होते हैं[56] और यह सर्ग भी पुरुषार्थ साधक नहीं होता अत: मानुष सृष्टि की गई। संसार में कलाओं को विकसित करने के लिए ऋषभदेव ने विवाह किया।[57] सम्पूर्ण कला केलियाँ काम की ही मर्यादित शक्तियां हैं। प्रमोद के साधन उत्सवादियों में भी परिष्कृत काम ही दिखलाई देता है। विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक उत्सव का चित्रण कालिदास व जयशेखर सूरि ने अपने काव्यों में किया है।[58] समाज में नारी–आदर्श की स्थापना करते हुए जयशेखर ने ऋषभदेव के आदर्श राज्य में इत्वरियों की इच्छा अपूर्ण रहने का संकेत किया है।[59] शीलवती पत्नियां ही पति की प्रिया कही गई है।[60]

कोरा काम अथवा कोरा अर्थ शिवसाधक नहीं है। सम्पत्तियाँ लौकिक जीवन का साधन कही गई हैं। यहाँ सम्पत्ति शब्द व्याख्या सापेक्ष है। कोषकार अमर सिंह ने द्रव्य शब्द में अर्थ के सभी भाव समाहित किये है। घटित अथवा अघटित रूप में प्राप्त होने वाला स्वर्ण आदि, मरकत पद्मराग मौक्तिक, रजत आभूषण सभी अर्थ की परिभाषा में समाहित हैं। वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं, भूमि, स्वर्ण, पशु, धनधान्य, वस्त्राभरण आदि की गणना अर्थ में की है।[61] भारतीय चिन्तन में अर्थ को पुरूषार्थ अवश्य माना गया है लेकिन उसे बहुत सम्मान नहीं

दिया गया है। भारतीय मनीषियों ने अर्थार्जन में सदैव यह प्रतिबन्ध रखा है कि वह सद्वृत्ति से अर्जित हो तथा उसे मानवजीवन का साधन ही माना जाता है साध्य नही। मनु ने सब पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता उत्तम कही है।[२२] वित्तेषणा मनुष्य को विचलित न करे अत: अपरिग्रह की भावना को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। शिव सभी सम्पत्तियों का प्रभवस्थान होते हुए भी अकिञ्चन कहे गये हैं।[२३] आदि तीर्थकर ऋषभदेव अयोध्या के राजा हैं, लक्ष्मी के स्वामी हैं किन्तु भोगों के प्रति अनासक्त हैं।[२४]

आज के युग में मानव धर्म के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर बैठा है जबकि धर्म, अर्थ, काम ही अभ्युदय साधक है।[२५] नैतिक आचार संहिता की उपेक्षा कर अर्थरूपी मृगमरीचिका में भटकते हुए आगामा श्रेय: के प्रति सर्वथा उदासीन मनुष्य वासना के जाल में फंसता जा रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वो शारीरिक हो या मानसिक , साहित्यिक हो या वैज्ञानिक, राजनीति हो या अर्थ व्यवस्था, धर्म हो या दर्शन सर्वत्र संस्कृति का होना आवश्यक है। सामाजिक गठन से परिवार का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पति–पत्नी दोनों मिलकर सन्तान के रूप में समाज का विकास करते हैं। स्पृहणीय समाज की स्थापना तभी संभव है जबकि धर्म एवं संस्कृति जो कि पुरुषार्थ चतुष्टय में समाहित है, समन्वित होकर व्यक्ति के संस्कारों में समाहित हो जाये। संस्कृति उन ग्रन्थों की ओर संकेत करती है जो हमारी उपलब्धियों की गाथा सुनाते हैं। आज हमारी संस्कृति पाश्चात्य जीवन धारा से प्रभावित समाज पर अपना प्रभाव जमाये रखने पर अशक्त सी होती जा रही है। हमारा दृष्टिकोण नियमहीन अर्थार्जन के प्रति सम्मोहित है। जो कुछ भी चिन्तनधारायें भारतीय समाज में, जीवन में आपतित हैं उनमें अनुहार है विदेशी व्यवहार का। काम का निर्बाध विलास अद्यतनीय समाज की एक समस्या है।

दोनों महाकाव्यों में कालक्रम के कारण कुछ अन्तर तो स्पष्ट दिखाई देता है पर सन्देश के स्वर दोनों काव्यों में सुनाई पड़ते हैं। कालिदास के कुमारसंभव के शिव एवं जयशेखर सूरि के जैनकुमार संभव के ऋषभदेव समाज के आदर्शनायक हैं। शिव तो देवजगत् के अग्रणी हैं और ऋषभदेव जैन समाज के परं मान्य आदि तीर्थकर। ऋषभ की दो पत्नियां प्रदर्शित कर नारी मात्र की भावना कुछ प्रदत सी अनुभूत होती है परन्तु शिव का एक पत्नीव्रत होना नारी जाति के हृदय में उल्लास भरता है। सती के आत्मदाह के पश्चात् शंकर किसी अन्य स्त्री के विषय में विवाह के लिए सोचते तक नहीं (कुमार. १.५.३) आज के युवकों में शिव का यह चरित्र सत्यनिष्ठा की स्थापना करने में सशक्त है।

आज के समाज की धर्मविहीन कामगाथा एवं धर्महीनार्थोपार्जन दारुण चिन्ता के विषय हैं। कालिदास और जयशेखर सूरि के समाज में भी राष्ट्रविरोधी तस्कर थे, कुलनाशिनी इत्वरी तथा पुंश्चली नारियां थी। परन्तु नायकों के चरित का व्यापक प्रभाव उन्हें निरस्त करने के लिए पर्याप्त

था। धर्मयुक्त काम परिवार ग्राम , देश का उन्नेता है। आज के समाज नायक राजनीति के प्रणेताओं के मन: सङ्कल्प अपराधों में वृद्धि न करें, अपनी नैतिकता में वरेण्यता संजोए तो यह निबन्ध सार्थक हो जायेगा।

डॉ. पद्मजा अमित
रीडर, संस्कृत विभाग
मुन्ना. जय. खेमका कन्या महाविद्यालय,
सहारनपुर

सन्दर्भ

१. काव्य के रूप पृ. ८

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. ३, बलदेव उपाध्याय

३. द्र. Sociology-Ginsberg. 'A Society is a Collection of individuale united by, certain relation and modes of behaviour.'

४. महाकवि कालिदास पृ. ११, डॉ. कैलास नाथ द्विवेदी

५. A History of Same Lit. P. 175, S.N. Dasgupta

६. गुप्त अभिलेख पृ. ६९, वासुदेव उपाध्याय

७. महा. कालि. पृ. ९२, कै. नाथ द्विवेदी

८. तेरहवी –चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य पृ. ८९, श्याम शंकर दीक्षित

९. जैन सा. का वृ. इति. भाग ६, पृ. ५१८ , गुलाबचन्द्र चौधरी

१०. कामसूत्र १/२/१

११. वही १/२/३९

१२. वही १/१

१३. कुमार संभव ५/३८

१४. वैशेषिक सूत्र १/१/२

१५. हलायुध कोष पृ. ३००

१६. महाभा. शान्ति. ११०/११

१७. ऋग्वेद १/६०/४६

१८. कुमार संभव २/१

१९. वही २/२१

२०. वही २/२४

२१. वही २/२५

२२. वही ७/८९
२३. वही ७/३९
२४. वही ७/३८
२५. वही २/६
२६. वही ६/२३
२७. जैन कुमार. २/१
२८. वही २/१२
२९. वही ८/३०
३०. वही ३/५३
३१. वही ३/५४
३२. वही ३/३९
३३. वही ४/५५
३४. वही २/६६
३५. महापुराण २३/१५७
३६. वही २२/५९
३७. जैन कुमार. ३/३६
३८. ज्ञानार्णव ३६/१६५
३९. तैत्ति. ब्राह्मण १/२/१/१०,
संस्कृति के चार अध्याय
पृ. ८४, दिनकर
४०. महाभारत शान्ति पर्व १२/२६
४१. वही १२/२३
४२. कुमारसंभव २/१२
४३. कुमार. ७/७९ जैन कुमार. ५/१७
४४. कुमार. २/४—१६
४५. जैनकुमारसंभव २/४९—७२
४६. वही २/७१
४७. वही २/६६
४८. ब्रह्म पुराण २७/२, मार्क. पु. ५५/२१
४९. मनुस्मृति १/१०८
५१. अथर्ववेद १२/१/१
५२. शान्ति पर्व १४८/६
५३. कुमार संभव ५/१—२
५४. भारतीय संस्कृति के मूलाधार पृ. १९
५५. कामसूत्रम् १/२/११
५६. महा. कालि. पृ. ३१
५७. जैनकुमारसंभव ५/६७
५८. वही ६/२५
५९. कामसूत्र १/२/३७
६०. चन्द्रप्रभचरित ३/११
६१. जैनकुमार. ६/२६
६२. कुमार. ७/९३
६३. जैनकुमार. ६/२७
६४. कुमारसंभव ३/६
६५. जैन कुमारसंभव ३/११
६६. पुराण विमर्श
पृ. २७८, बलदेव उपाध्याय
६७. जैनकुमार. ३/६
६८. कुमार. सर्ग ७
जैन कुमार. ४ एवं ५ सर्ग
६९. जैनकुमार. १/७
७१. कामसूत्र १/२/९
७२. मनुस्मृति ५/१०६
७३. कुमार संभव ५/७७
७४. जैनकुमारसंभव ३/२५
७५. कामसूत्र १/२/३९

श्रोत्रिय ब्राह्मण की गौरवमयी पहचान

अनेकानेक योनियों में भटकता हुआ जीव अपनी मुक्ति के लिए छटपटाता हुआ ईश्वर से अनवरत प्रार्थना करता है कि किसी प्रकार भगवत्कृपा से उसे अवसर प्राप्त हो और वह इस संसार के आवागमन से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास करे। कदाचित वह अपने विगत समस्त जन्मों का पुण्य संचित कर मानव रूप में अवतरित होता है। अपनी मुक्ति के लिए उद्यम करने में सक्षम मानव इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मानवयोनि को प्राप्त प्राणी देव, दनुज, नाग, किन्नर, यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व से भी बढ़कर है, क्योंकि देवगण स्वर्गिक भोगलिप्सा में लिप्त होकर अपने कल्याणार्थ उद्यम करने से विरत हो जाते हैं, दैत्यगण स्वभावत: अपने उग्र कर्मों से भोग प्राप्ति के लिए संघर्ष करने में ही समस्त शक्ति का दुरूपयोग कर डालते हैं। परन्तु मानव इन दोनों से ही भिन्न सरलमार्ग अपनाकर अपना कल्याण कर सकने में समर्थ है। यही कारण है कि मानव को देवता और दानवों से भिन्न श्रेष्ठ प्राणी माना गया है। देवगण भी अपना पुण्य क्षय होने पर पुन: मानवरूप में अवतरित होकर पुन: पुण्यार्जन कर अपना पूर्ववत भोग प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। यही कारण है कि मानव को सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना माना गया है।

भारतीय सनातनधर्म की मान्यतानुसार भारतीय समाज को चार प्रमुख वर्णो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभक्त किया गया है। इन वर्णो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राय: हमारे धर्मशास्त्रों में दैवीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि यह सिद्धान्त किसी वैज्ञानिक तर्क पर आधारित नहीं है, परन्तु गुणकर्म के अनुसार समस्त धर्मशास्त्रों में उत्पत्ति विषयक धारणा में मतैक्य ही है। प्राचीन वैदिकसाहित्य से लौकिक संस्कृतसाहित्य तक सभी ने ब्रह्मा अथवा परमपुरुष परमात्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानी है, क्षत्रियों की उत्पत्ति बाहु से, वैश्य की ऊरु (जंघा) अथवा उदर से तथा शूद्रों की उत्पत्ति चरणों से मानी गई है।

ब्राह्मण बहुविध होते हैं, उनका वर्गीकरण जन्मस्थान, क्षेत्रीयता, कुलीनता, वंशपरम्परागत कर्म एवं कर्त्तव्य के आधार पर किया जाता है। उनमें उच्च एव निम्न स्तर स्वत: ब्राह्मणों द्वारा ही करके भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है। यह स्वयं ब्राह्मणों के लिए ही बड़ा शोचनीय जटिल प्रश्न है कि अपने ही जाति–भाईयों में खान–पान तक भेद–भाव करते हैं, जिससे कि आपस में ही वैमनस्यपूर्ण स्थिति हो जाती है। इसी का लाभ ब्राह्मणेतर उठाकर स्वयं ही ब्राह्मण बने बैठे हैं। जबकि भारतवर्ष मे ब्राह्मणों की संख्या पर्याप्त है। परन्तु एकता और सहयोग के अभाव में कष्ट उठाते और अपमान सहते हैं। किसी ने बहुत ठीक ही कहा है कि भारत में ब्राह्मणों को एकत्र

करना मेढ़क तौलने के समान कठिन है। क्योंकि ब्राह्मण बुद्धिजीवी होते हैं और बुद्धिजीवी वर्ग सदैव तार्किक दृष्टिकोण रखने के कारण एक झण्डे के नीचे, एक नेतृत्व में नहीं आ सकते। इसीलिए ब्राह्मणों के इतने भेद हो गये हैं कि स्वयं ब्राह्मणों को भी इन वर्गों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान नहीं होने के कारण एक दूसरे के ब्राह्मणत्व अथवा उसकी कुलीनता के सम्बन्ध में सन्देह हो जाता है। इस लेख के वर्ण्य विषयक श्रोत्रिय ब्राह्मणों की भी यही स्थिति है। श्रोत्रिय ब्राह्मण अत्यल्प होने के कारण अपनी पहचान ब्राह्मणों में ही नहीं बना सके हैं। जन.सामान्य तो प्राय: श्रोत्रिय ब्राह्मणों से अपरिचित सा ही है।

श्रोत्रिय—ब्राह्मण वेदपाठी ब्राह्मण होता है। "श्रोत्रीति छन्दोऽधीते, श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते इति वा श्रोत्रियन्निपात्यते।" "छन्दस्+घ+इय, छन्दस् के स्थान पर श्रोत्र आदेश=श्रोत्रिय (छन्दोऽधीते इति श्रोत्रिय)" यह अमरकोश के अनुसार श्रोत्रिय की व्युत्पत्ति हुई। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अनुसार "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीयते" छन्द (वेद) पढ़ने वाला श्रोत्रिय होता है। मतंगलीलाकार ने "छन्दो वेदमधीते वेत्ति वा—छन्दस् + घ श्रोत्रादेश: विद्याया याति विप्रत्वं त्रिभि श्रोत्रिय उच्यते।" (मतंगलीला १.५, रघुवंश १६.२५ की पाद टिप्पणी) श्रोत्रिय की व्युत्पत्ति की है। ब्रह्म विद्या में निष्णात् ब्राह्मण ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय कहलाता है। जो ब्रह्म विद्या को क्रियारूप अर्थात् अध्ययन—अध्यापन में परिणत करे—

"श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्" (माण्डूक्योपनिषद् १ २.१२)

"क्रियावन्त: श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा" (माण्डूक्योपनिषद् ३.२.१०)

अपने उत्तम संस्कार के द्वारा ही ब्राह्मण श्रोत्रिय वंश में जन्म लेकर लगातार विद्याभ्यास करता है तभी कर्म से श्रोत्रिय हो सकता है—

"जन्मन: ब्राह्मणो ज्ञेयं, संस्कारैद्विज उच्यते।
विद्याभ्यासी भवेद् विप्रं, श्रोत्रियस्त्रिभिरेव हि।।"

(पद्मपुराण, उ.का. ११६)

किसी—किसी ग्रन्थ में 'जन्मन: जायते शूद्र:, संस्काराद् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं, त्रिभि श्रोत्रिय उच्यते।।' मिलता है। इस कथन का भी यही तात्पर्य है कि मनुष्य विद्याभ्यास से ही श्रोत्रिय हो सकता है। अत: श्रोत्रिय जन्मन: की अपेक्षा कर्मणा होने पर अधिक बल दिया गया है। श्रोत्रिय ब्राह्मण में कामभावना को मारने की क्षमता होनी चाहिए—

"श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत:" (बृहदारण्यक ४.३.३३)

"श्रोत्रियस्य चाकामहतकस्य" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.८.१)

श्रोत्रिय ब्राह्मण में अशिष्य अर्थात् अशिष्ट लोगों को संस्कार द्वारा सुधारने शिष्ट बनाने की भी क्षमता होती है—

"श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचमन्ति" (बृहदारण्यक ६.१.१४)

श्रोत्रिय ब्राह्मण के संसर्ग में रहने से अश्रोत्रिय (वेदविद्याहीन) भी श्रोत्रिय (वेद विद्या में पारंगत) हो जाता है– "अश्रोत्रिय श्रोत्रियो भवति (अथर्व. ७)" श्रोत्रिय ब्राह्मणों में शास्त्रों के प्रति प्रेम होना स्वाभाविक होना चाहिए, शास्त्रो के प्रति वात्सल्य भाव रखने वाला ब्राह्मण श्रोत्रिय होने का गौरव पाता है– "श्रोत्रियं शास्त्रवांत्सल्यम्" (मुक्तिकोपनिषद्) वात्सल्य का तात्पर्य जैसे हम अपने बच्चों के प्रति वात्सल्य भाव रखते हैं वही भाव शास्त्रों में भी हो, तभी श्रोत्रिय का गुण कहलायेगा। वेदाध्ययन से श्रोत्रियत्व की प्रप्ति के बारे में महाभारतकार का भी कथन प्रशंसनाय है कि वेदाध्ययन के द्वारा ही ब्राह्मण श्रोत्रिय हो जाता है, तप से महत्पद प्राप्त करता है, धैर्य से द्वितीयवान और वृद्धसेवा से बुद्धिमान होता है–

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति, तपसा विन्दते महत्।
धृत्या द्वितीयवान् भवति, बुद्धिमान् वृद्धसेवया।।

(महाभारत, वन. ३१३.४८)

किन्हीं के मत में वेद की एक शाखा का और छः अंगों का अध्ययन कर षड्कर्मों में निरत ब्राह्मण श्रोत्रिय होता है वह धर्म का ज्ञाता तथा धर्म में तत्पर रहने वाला होता है–

"एकां शाखां संकल्पा वा षडभिरङ्गैरधीत्य वा।
षडकर्म निरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित्।।"

(दानकमलाकर, उत्तररामचरितम्–४ की पाद टिप्पणी)

महाभारतकार के मत में जीव समस्त योनियों में भटकने के बाद अपने समस्त अर्जित पुण्यों के फलस्वरूप सबसे अन्त में श्रोत्रियब्राह्मण के घर जन्म लेता है। पशु–पक्षी की योनि में पड़े हुए सभी प्राणी यदि कभी मनुष्य योनि में जाते है तो पहले पुल्कस या चाण्डाल के रूप में जन्म लेते हैं। मतंग या पुल्कस या कोई भी पापयोनि पुरुष सुदीर्घकाल तक अपनी उसी योनि में चक्कर लगाता रहता है। तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतने पर वह शूद्र योनि में जन्म लेता है और उसमें भी अनेक जन्मों तक चक्कर लगाता रहता है तत्पश्चात् तीस गुना समय बीतने पर वह वैश्य योनि में आता है और चिरकाल तक उसी में चक्कर लगाता रहता है। इसके पश्चात् साठ गुना समय बीतने पर वह क्षत्रिय की योनि में जन्म लेता है। फिर उससे भी साठ गुना समय बीतने पर वह गिरे ब्राह्मण के घर में जन्म लेता है। दीर्घकाल तक ब्राह्मणाधम रहकर जब उसकी अवस्था परिवर्तित होती है, तब वह अस्त्र–शस्त्रों से जीविका चलाने वाले ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेता है फिर चिरकाल तक वह उसी योनि में पड़ा रहता है। तदनन्तर तीन सौ वर्ष का समय व्यतीत होने पर वह गायत्री मन्त्र का जप करने वाले ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेता है। उस जन्म को पाकर वह चिरकाल तक उसी योनि में जन्मता–मरता रहता है। फिर चार सौ वर्ष का समय व्यतीत होने पर

वह श्रोत्रिय (वेद वेत्ता) ब्राह्मण के कुल में जन्म लेता है और उसी कुल में चिरकाल तक उसका आवागमन होता रहता है। (महाभारत, अनु. २८.६–१३) उस तथ्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रोत्रिय ब्राह्मण जन्मनः होता है फिर बाद में वह कर्मणा श्रोत्रिय होता है।

श्रोत्रिय ब्राह्मण पंक्तिपावन होता है अर्थात् वह जिस पंक्ति में बैठकर भोजन कर ले तो उस पंक्ति मे बैठे हुए समस्त ब्राह्मणों को वह पवित्र कर देता है–

अग्रया: सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयज्ञाश्चैव विज्ञेया: पंक्तिपावना।।

(मनु. ३.१८४)

क्योंकि वह वेद या पराविद्या का ज्ञाता या उपदेशकर्ता या छान्दोग वेद शाखा का विद्रान है और दस पीढ़ियों से जो श्रोत्रिय (जन्मन: तथा कर्मणा) है वह भी पंक्तिपावन ही होता है–

"ब्रह्मदेयानुसंतानश्छन्दोगो ज्येष्ठसामग:।
मातापित्रोर्यश्च वश्य: श्रोत्रियो दशपूरुष:।।"

(महा. अनु. १०.२७)

जो श्रोत्रिय, स्वस्थ, महायज्ञपरायण, गायत्री जप करने वाला युवक सामर्थ्यसम्पन्न पंक्तिपावन कहे गये हैं। अर्थात् ऐसे ही ब्राह्मणों को जो अपने श्रोत्रियत्व कर्म में निरत हों, पंक्तिपावन कहा जाता है–

युवान: श्रोत्रिया: स्वस्था महायज्ञपरायणा:।
सावित्री जाप निरता ब्राह्मणा: पंक्तिपावना:।।

(कूर्मपुराण २१.११)

अत: श्रोत्रिय ब्राह्मण यज्ञान्न (हव्य) एवं श्राद्धान्न (कव्य) से प्रथम पूज्य हैं। यज्ञ के समय यदि श्रोत्रिय ब्राह्मण आ जावे तो उसका राज के समान ही मधुपर्क से पूजन करने का विधान है–

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थिति।।

(मनु. ३.१२०)

हव्य–कव्य श्रोत्रिय ब्राह्मण को देने से ही बहुत बड़ा फल होता है, क्योंकि वही पूज्य भी माना गया है और दाता को दान का उत्तम फल प्राप्त होता है–

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभि:।
अहर्त्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्।।

(मनु. ३.१२८)

उस वेद के पारंगत श्रोत्रिय विद्वान् को जो जितेन्द्रिय है, क्रियानिष्ठ और अपने धर्म से ही

जीविका चला रहा है, तपस्वी है उसके सत्कार के लिए सब कुछ करना चाहिए, यही विधान है—

तथास्यातिथय: पूज्या हव्यकव्यह: सदा।
वेदविद्याव्रतस्नाता: श्रोत्रिया वेद पारगा:।।
स्वधर्म जीविनो दान्ता: क्रियावन्तस्तपस्विन:।
तेषां हव्यं च कव्यं चात्यर्हणार्थं विधीयते।।

(महा., शान्ति. २४३.८—९)

जिस प्रकार पंक्ति पावन परमपवित्र श्रोत्रिय ब्राह्मण हव्य —कव्य के अधिकारी होते हैं अर्थात् उन्हें भोजन देने से अक्षय फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार उन्ही श्रोत्रिय ब्राह्मणों को विविध प्रकार के दान देने से भी उत्तम फलों की प्राप्ति होती है। गोदान सभी प्रकार के दानों में श्रेष्ठ माना जाता है। गोदान किसी भी ब्राह्मण को दिया जाय, उत्तम फलदायक होता है, परन्तु श्रोत्रिय ब्राह्मण को गाय दान देने से अक्षय फल की प्राप्ति होती है। महाभारतकार के मत में बहुत पुत्र वाले, बिना किसी जीविका वाले, दुर्बल क्षोत्रिय और अग्निहोतृी ब्राह्मण को, जो गौ के लिए याचना कर रहा हो उसे दूध देने वाली निरोग दस गायें दान में देने पर उत्तम फल देने वाला दान कहा गया है। दानदाता उत्तम लोकों को प्राप्त करता है—

भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायहिताग्नये।
दत्त्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान्।।

(महा. अनु. ६९.१६)

कृशाय बहुपुत्राय श्रोत्रियायहिताग्नये।
प्रदाय नीरुजां धेनुं लोकान् प्राप्नोत्यनुत्तमान्।।

(महा., अनु. १४५ पृ. ५९९७)

जो व्यक्ति सौ गायों को बड़ी—बड़ी सींगो वाले वृषभ के साथ श्रोत्रिय ब्राह्मण को दान करते हैं, वे इस संसार में जब—जब जन्म लेते हैं, तब—तब महान ऐश्वर्य के भागी होते हैं। सौ गायों के साथ एक वृषभ को दान देने का तात्पर्य यह है कि वृषभ के साथ ही गायें फलवती होंगी, तभी दान का लाभ ब्राह्मण को और दान का पुण्य दानदाता को प्राप्त होगा, अन्यथा सौ गायें निरर्थक हैं इसीलिए एक वृषभ का दान भी दाता के लिए आवश्यक बतलाया गया है—

युवानमिन्द्रियोपेतं शतेन शतयूथपम्।
गवेन्द्रं ब्राह्मणेन्द्राय भूरिशृंगमलंकृतम्।।
वृषभं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियाय परन्तप।
ऐश्वर्ये तेऽधिगच्छन्ति जायमाना: पुन: पुन:।।

(महा., अनु. ७८.१४—१५)

गोदान के समान ही स्वर्णदान का भी महत्त्व बतलाया गया है कि शुद्ध हृदय से श्रोत्रिय

ब्राह्मणों को स्वर्णदान करने वाला समस्त देवताओं को भी तृप्त कर देता है, यह वैदिक मत है–

"सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियेभ्यः सुचेतसः।
देवतास्ते तर्पयन्ति समस्ता इति वैदिकम्।।"

(महा., अनु. १४५ पृ. ५९९६)

श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति हेतु हमारे धर्मग्रन्थों में विविध दान बतलाये गये हैं। परन्तु महाभारतकार के मत में श्रोत्रिय ब्राह्मण जिस व्यक्ति के द्वारा दान में दिये गये घर में अपने बच्चों सहित प्रसन्नतापूर्वक रहता है, उसे श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति होती है–

"अध्यापककुले जातः श्रोत्रियो नियतेन्द्रियः।
गृहे यस्य वसेत् तुष्टः प्रधानं लोकमश्नुते।।"

(महा., अनु. ६७.२९--३०)

दान निरर्थक न हो इसके लिए कूर्मपुराण में व्यवस्था दी गई है कि श्रोत्रिय, कुलीन, विनयी, तपस्वी, सदाचारी तथा धनहीन ब्राह्मण को, जिसे दान की आवश्यकता हो उसी को भक्तिपूर्वक दान देना है। फल–प्रदान कराने वाला होता है, और वही ब्राह्मण दान का पात्र भी होता है–

श्रोत्रियाय कुलीनाय, विनीताय तपस्विने।
वृत्तस्थाय दरिद्राय, प्रदेयं भक्तिपूर्वकम्।।

(कूर्मपुराण २६.११)

वहीं दानदाता को यह भी सचेत किया गया है कि यदि श्रोत्रिय ब्राह्मण समीप में हो तो अन्य ब्राह्मण को दान नहीं देना चाहिए अर्थात् प्रथमत श्रोत्रिय ब्राह्मण को दान देने के साथ अन्य ब्राह्मण को भी दान देना चाहिए, अन्यथा श्रोत्रिय ब्राह्मण की अवमानना है। श्रोत्रिय ब्राह्मण की अवमानना करने वाला स्वयं तो पापी होता ही है अपने पाप से अपनी ही सात पीढ़ियों को दग्ध कर लेता है। अतः दान का पात्र प्रथमतः श्रोत्रिय ब्राह्मण ही है–

"संनिकृष्टमतिक्रम्य श्रोत्रियं य प्रयच्छति।
स तेन कर्मणा पापी दहत्यासप्तमं कुलम्।।"

(कूर्मपुराण २६.६८)

गृहस्थ श्रोत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह पितृ ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण से अपने को मुक्त करके दूसरे आश्रमों में प्रवेश करे, क्योंकि यदि वही श्रेष्ठ ब्राह्मणों के कर्त्तव्य ऋण आदि से मुक्ति यज्ञादि का अनुष्ठान नहीं करेगा तो अन्य कौन करेगा–

"प्रज्ञावाञ्श्रोत्रियो यज्वा मुक्त एव ऋणैस्त्रिभिः।
अथान्यान्याश्रमान् पश्चात् पूतो गच्छेत कर्मभि।।"

(महा., शान्ति. २३३.७)

ज्ञानवान, श्रोत्रिय, यज्ञकर्ता, दोषदृष्टि से रहित तथा शुद्ध बुद्धि वाला पुरुष यदि ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता तो और कौन करेगा, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से ही अज्ञात है तथा वेद के द्वारा

भी जिसका इदमित्थं रूप से ही वर्णन किया गया है–

"प्रज्ञावाञ्श्रोत्रियो यज्वा कृतप्रज्ञोऽनसूयक:।
अनागतमनैतिह्यं कथं ब्रह्माधिगच्छति।।"

(महा., शान्ति. २३९.२)

अर्थात् यदि श्रोत्रिय ब्राह्मण जो ब्रह्म को जान तो सकता है परन्तु आसानी से प्राप्त नहीं कर सकता तो अन्य कैसे प्राप्त कर सकेगा? श्रोत्रिय ब्राह्मण (वेदपाठी) की श्रेष्ठता अपने अवेदपाठी पिता से भी उच्च बताई गई है। जिसका **तात्पर्य है कि श्रोत्रिय कुल में जन्म लेने मात्र से ही वह श्रेष्ठ नहीं हो जाता उसे वेदाभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए।** वेदपाठी श्रोत्रिय वंश में जन्म लेना तो श्रेयस्कर है ही–

"अश्रोत्रिय: पिता यस्य पुत्रस्याद्वेदपारग:।
अश्रोत्रियो वा पुत्र: स्यात्पिता स्याद्वेदपारग:।।"

(मनु. ३.१३६)

श्रोत्रिय ब्राह्मणों की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ब्राह्मण तो सदैव सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखने के कारण मैत्र कहलाता है। उनमें श्रोत्रिय क्षमाशील भी होता है। श्रोत्रिय को जो दरिद्र एवं विनयशील है तो उसे दान देने की प्रतिज्ञा करके फिर न देना और उनकी निन्दा करना यह दोनों ही पाप मनुष्य को नरक योनि में ले जाने वाले होते हैं–

"संश्रुत्य चाप्रदातारो दरिद्राणां विनिन्दका:।
श्रोत्रियाणां विनीतानां दरिद्राणां विशेषत:।।
क्षमिणां निन्दकाश्चैव ते वै निरयगामिन:।"

(महा., अनु. २३.८०–८१)

श्रोत्रिय ब्राह्मणों को अपने निकट बसाना उत्तम माना गया है। क्योंकि श्रोत्रिय जहाँ रहते हैं वह स्थान कल्याणकारक एवं पुण्यप्रद और शान्तिदायक हो जाता है। जहाँ ऋण देने वाले धनिक लोग न रहते हों, वैद्य, वेदपाठी श्रोत्रिय ब्राह्मण, राजा न रहते हों, जहाँ नदी न हो वहां निवास नहीं करना चाहिए क्योंकि वह स्थान किसी भी तरह से कल्याण कारक नहीं होता–

"तत्र मित्र! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम्।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रिय: सजला नदी।।"

(हितोपदेश, मित्रलाभ १०६)

"धनिक: श्रोत्रियो राज: नदी वैद्यस्तु पंचम:।
पंच यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवस वसेत्।।"

(चाणक्य नीति १.९)

श्रोत्रिय ब्राह्मण से विशेष शिक्षा प्राप्त करने का निर्देश वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। क्योंकि सामान्य शिक्षा तो कोई भी गुरु दे सकता है, परन्तु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होता है अत: विशेष ज्ञान एवं विज्ञान, पराविद्या, ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त करने हेतु जिज्ञासु शिष्य को विनम्र भाव से हाथ जोड़े हुए ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय ब्राह्मण की ही शरण में जाना चाहिए–

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।"

जनसामान्य को श्रोत्रिय ब्राह्मण के लिए पूजित और सम्मानित करने हेतु प्रेरित किया गया, वहीं यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि राजा श्रोत्रिय ब्राह्मण का विशेष ध्यान व सम्मान करे। कोई विवाद न्यायार्थ यदि राजा के पास आता है तो उसमें राजा नट और कारीगर को तो इसलिए साक्षी न करे कि वे लोभवश या भयवश सत्य साक्ष्य का पालन नहीं करेंगे, वहीं राजा, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और संन्यासी को साक्षी इसलिए नहीं करना चाहिए कि ये समाज के द्वारा सम्माननीय हैं और उन्हें सत्य तथा शपथ में बांधना उनका तिरस्कार करना है–

"न साक्षी नृपति: कार्यो न कारुककुशीलवौ।
न श्रोत्रिय न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गत:।।"

(मनु. ८.६५)

मांगलिक समारोहों में श्रोत्रिय ब्राह्मण को सम्मानपूर्वक भोजन कराने का सामाजिक विधान है, यदि कोई पड़ोसी अन्य ब्राह्मण या मनुष्य को भोजन न करावे तो यह उसकी इच्छा और सामर्थ्य तथा व्यवहार पर निर्भर है। परन्तु श्रोत्रिय ब्राह्मण को भोजन न करावे तो मनु जी का निर्देश है कि राजा श्रोत्रिय को भोजन न कराने वाले पड़ोसी पर भोजन से दुगुनी भोज्य वस्तु और एक माषा स्वर्ण का दण्ड करे–

"श्रोत्रिय: श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन्।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माष्कम्।।"

(मनु. ८.३९३)

इसका तात्पर्य श्रोत्रिय को भोजन कराने का राजनियम था। साथ ही जो महापुरुष श्रोत्रिय का उपकार करते हों उसे भी राजा राजकर से मुक्त कर दे जिस प्रकार अन्धे, मूर्ख, अपाहिज, वृद्ध से किसी प्रकार का राजकर नहीं लेने का विधान है, अर्थात् श्रोत्रिय का उपकार करने वाले को राजा प्रोत्साहित करे–

"अन्धो जड: पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च य:।
श्रोत्रियेषुपकुर्वंश्च न दाप्या केनचित्करम्।।"

(मनु. ८.३९४)

राजा को चाहिये कि वह श्रोत्रिय को, रोगी, दु:खी, बालक, वृद्ध, दरिद्री उत्तमकुलीन, उत्तम

आचरणशील आदि को सदैव दान–मान द्वारा सम्मान करता रहे। अर्थात् इनकी देखभाल धन आदि देकर भी करे तथा दया करे–

"श्रोत्रियं व्याधितार्तो च बालवृद्धवकिञ्चनम्।
महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा।।"

(मनु. ८ ३९५)

श्रोत्रिय ब्राह्मण को राजा न तो वध का दण्ड दे, न बन्धन का दण्ड दे, न आर्थिक दण्ड दे, न उसको अपमानित या बहिष्कृत करे, न देश निकाले का दण्ड दे, यदि श्रोत्रिय ब्राह्मण अपराध कर दे तो राजा सोच–विचार कर उसे दण्डित करने की व्यवस्था करे–

"यत्तु षडभिः परिहार्यो राजाऽवध्यश्चावन्ध्यशचादण्डयश्चा।
बहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चद्यश्चापरिहार्यश्चेति श्रोत्रियः।।"

(गौतम धर्मसूत्र ८.१२.१३)

अतः श्रोत्रिय ब्राह्मण का विशिष्ट स्थान था जिसका सम्मान राजा तथा जनसामान्य उसे महान् ब्राह्मण के रूप मे मानकर करता था। जो वस्तुतः श्रोत्रियों के लिए गौरवास्पद है। अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा श्रोत्रियों का विशेष आदर उनके विशेष त्याग, कर्त्तव्य, अध्यापन, ज्ञान, चिन्तनशीलता के ही कारण था। उनके कर्त्तव्य भी अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा विशिष्ट रहे हैं। सतत् वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन के साथ–साथ उसे कभी किसी के धन का लोभ नहीं करना चाहिए तथा अपने पास जो कुछ भी है उसी से सदैव दूसरों की सहायता न करने वाला श्रोत्रिय इतना निकृष्ट माना गया है कि उसका अन्न भी निषिद्ध है, उसके अन्न को कोई न खाये, यह देवताओं का निश्चय है–

"श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्।।"

(मनु. ४.२२४)

श्रोत्रिय ब्राह्मण को अपने कुटुम्बीजनों का, अतिथियों के समान ही ध्यान रखना चाहिए, जब तक कुटुम्बीजन भोजन नहीं कर लेते तब तक श्रोत्रिय को स्वयं भोजन नहीं करना चाहिए यह उसका मुख्य धर्म बतलाया गया है, अर्थात् सबके भोजन की चिन्ता श्रोत्रिय को करनी चाहिए–

"भुक्ते परिजने पश्चाद् भोजनं धर्म उच्यते।
ब्राह्मणस्य श्रोत्रियस्य विशेषतः।।"

(महा. अनु. १४१.४२)

यह स्वयंपाकी ब्राह्मणो की विशेषता है कि सबको भोजन करवा कर ही वे स्वयं भोजन करते हैं। सोम (एक प्रकार का देवताओं का पेय विशेष) ब्राह्मणों का राजा कहा गया है परन्तु यदि लोभवश श्रोत्रिय ब्राह्मण उसे बेच दे अथवा ब्याज पर दीन–दुखियों को धन दे तो उसका यह

अपराध क्षम्य नहीं है, अर्थात् वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है–

**"सोमं तु रजसा ध्वस्तं विक्रीणन् विधिपूर्वकम्।
श्रोत्रियो वार्धुषी भूत्वा न चिरं स विनश्यति।।"**

(महा., अनु. १०१ १४)

अत: श्रोत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह बिना ब्याज पर दूसरों को रुपये देकर उनकी मदद करे। श्रोत्रिय को वेद के केवल रटने मात्र से ही काम नहीं चल सकता, उसे उसके अर्थज्ञान एवं तत्त्व विवेचन का ऊहापोह भी करना आवश्यक होता है, अन्यथा उसकी बुद्धि मात्र गुरु की वाणी का अनुसरण करने से नष्ट हो जाती है, वह मन्दबुद्धि तात्त्विक अर्थ नहीं समझ सकता है तो यह उसके श्रोत्रियत्व के गुण नहीं हैं–

**"श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चित:।
अनुवाहकता बुद्धिनैषां तत्त्वार्थदर्शिनी।।"**

(महा., वन. ३५.१९, शान्ति. १०.१)

महाभारत के एक प्रसंगानुसार यदि वेदज्ञ श्रोत्रिय वेद के विरुद्ध कार्यों को करते हैं तथा ऐसे श्रोत्रिय विद्वान् इन्द्रियों के अधीन रहते हैं तो राक्षस भी उनके इस कृत्य पर बहुत दु:खी होते हैं। ब्राह्मण राक्षस संवाद में ब्राह्मण ने राक्षस को इसी दु:ख से कमजोर व पीला पड़ने की आशंका व्यक्त की है, अर्थात् श्रोत्रियों का वेद विरुद्ध कार्य राक्षसों के लिए भी चिन्ता का कारण होता है–

**"श्रोत्रियांश्च विकर्मस्थान् प्राज्ञांश्चात्यजितेन्द्रियान्।
मन्येऽनुध्यायसि जनांस्तेनासि हरिण: कृश:।।"**

(महा. अनु. १२४.३८)

जहाँ श्रोत्रियों के कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं वहीं श्रोत्रिय ब्राह्मण की स्त्री को भी अन्य सामान्य स्त्रियों की अपेक्षा सतीत्व, शील, शिक्षा, दया, कर्त्तव्यपरायणता, दूसरों का सम्मान आदि गुणों में अधिक होना उनके विशेष सम्मान हेतु श्रेयस्कर है। क्योंकि श्रोत्रिय स्त्री पूज्य है। उसके साथ हास–परिहास के लिए निषिद्ध एवं उसके साथ समागम करने पर पापी दूने दण्ड का भागी है तो श्रोत्रिय स्त्री को भी इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वह न किसी के साथ हास–परिहास करे और न किसी के साथ व्यभिचार करने की कामना ही मन में लाये।

वेदशाखाध्यायी, तपस्वी, सदाचारी, स्वाध्यायशील ब्राह्मणों के महत्त्व से आज का समाज अनभिज्ञ होता जा रहा है। कुछ व्यक्तियों को तो "ब्राह्मण" नाम से चिढ़ हो गई है। यह स्थिति समाज के लिए अध:पतन की सूचना है। क्योंकि बुद्धिहीन, पराक्रमहीन, धर्महीन और अशिष्ट मनुष्य पूज्यों का तिरस्कार करके शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जबकि ब्राह्मण को समस्त जीवधारियों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। जीवों में प्राणधारी, प्राणधारियों में बुद्धिमान्, बुद्धिमानो में मनुष्य और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ

कहे गये हैं–

"भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठा प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नरः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः।।"

(मनु. १.९६)

उसकी उत्पत्ति की श्रेष्ठता के अनुसार ही उसका रंग भी श्वेत बतलाया गया है, जो त्याग, सादगी, ज्ञान आदि का प्रतीक माना जाता है। क्षत्रियों का पराक्रम प्रतीक लाल, वैश्य का श्री व वैभव का प्रतीक पीला तथा शूद्र का सेवाभाव का प्रतीक काला रंग बतलाया गया है।

अतः निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि श्रोत्रिय ब्राह्मण उत्तम कुलीन और जन्मनः तथा कर्मणा पूज्य हैं। जो अपने त्याग–तपस्या, ज्ञान एवं कर्म के आधार पर न केवल सामान्य वर्ग अपितु ब्राह्मणों में भी सम्माननीय होते हैं। आवश्यकता है उन्हें अपनी गौरवमयी पहचान कराने तथा कर्त्तव्यबोध कराने की, जिससे वे मात्र उपनाम, पदवी धारक ही नहीं वरन् कर्मणा श्रोत्रिय बन सकें। जो व्यक्ति अल्पज्ञान के कारण श्रोत्रिय को असमंजस्य की दृष्टि से देखते हैं वे भी समझ सकें कि श्रोत्रिय ब्राह्मणों का क्या स्थान है। साथ ही स्वयं श्रोत्रिय ब्राह्मण अपनी पूर्ण गौरवमयी पहचान न रख सकने के कारण उनसे जानकारी चाहे जाने पर निरुत्तर हो जाते हैं अथवा पर्याप्त पुष्ट प्रमाण न दे सकने पर दूसरों की शंका समाधान करने में असमर्थ रह जाते हैं। सामाजिक परिवर्तन से श्रोत्रिय ब्राह्मणों में भी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है, संख्या में अत्यल्प और इधर–उधर बिखरे होने के कारण अपनी पहचान व सम्मानजनक अस्तित्व को संकट में जानकर उन्हें पुनः संगठित होकर अपने अतीत गौरवमयी कर्त्तव्य व प्रतिष्ठा प्राप्त करने हेतु सचेत एवं क्रियाशील रहने की आवश्यकता है। वह समय दूर नहीं जब श्रोत्रिय पुनः अपने सद्गुणों के आधार पर समस्त मानवजाति में अपनी पहचान बनायेंगे। श्रोत्रियों के अभ्युदय की कामना के साथ मेरी श्रोत्रिय ब्राह्मण के रूप में सदैव प्रभु से यही प्रार्थना है कि विश्व का कल्याण हो एवं निष्काम भावना से सदैव हमारी बुद्धि प्रभु के भजन में लगे–

"स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां,
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजता दधोक्षज,
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी।।"

डॉ. प्रमोद कुमार श्रोत्रिय
राजकीय इण्टर कॉलेज, खेला,
पिथौरागढ़ (उत्तरांचल)

(नोट– यह आवश्यक नहीं है कि 'सम्पादक' लेखक के सभी विचारों से पूर्णतया सहमत हो।)

किशोरावस्था और योगाभ्यास

किशोरावस्था संक्रमण का काल है। इसी अवस्था में किशोर में पुरुष व स्त्री जननांगों का विकास होने के कारण प्रत्येक स्तर पर परिवर्तन होता है जिससे उसके मस्तिष्क में वैचारिक क्रान्ति होती है। इस समय उसको माता–पिता व गुरु के उचित मार्ग दर्शन की आवश्यकता होती है। इसी काल को सर्वाधिक संरक्षण के लिए उपयुक्त समझते हुए मनु महाराज ने **"लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्"** को व्यवस्था दी थी। यदि इस काल में बालकों को सही दिशा–निर्देश प्राप्त हो जाएँ, तो वे जीवनभर उन्नति पथ पर अग्रसर होते रहेंगे तथा शरीर, मन व बुद्धि के स्तर पर पर्याप्त वृद्धि प्राप्त कर सकेंगे।

आधुनिक भौतिक जगत् की चकाचौंध ने केवल बालकों को ही नहीं उनके अभिभावकों को भी अपनी ओर आकृष्ट करके समाज से दूर (केवल अपने तक ही सीमित) कर दिया है। इस कारण वे सामाजिक मानदण्डों की उपेक्षा करके स्वार्थपरक जीवन के अभ्यस्त हो गए हैं। स्वार्थपरता के इस युग में एकाकीपन हमें विरासत में ही मिला है। अतः अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहण भी हमें अकेले ही करना होता है। इसलिए अभिभावकों को अपने उत्तरदायित्व का चिन्तन कर स्वयं को उसके लिए तैयार कर लेना चाहिए। उन्हें अपने बालकों के भविष्य को दृष्टिगत करके उनमें कुछ रचनात्मक कार्य करने के प्रति जाग्रति उत्पन्न करनी होगी। योगाभ्यास इस दिशा में उनका परम सहायक हो सकता है।

बालकों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में योग की महती भूमिका है। शारीरिक विकास के लिए सुगठित, सुन्दर व मजबूत शरीर होना चाहिए। मानसिक विकास के लिए एकाग्रता, इन्द्रियनियन्त्रण व दृढ़ संकल्पशक्ति की आवश्यकता है। बौद्धिक विकास के लिए जरूरत है सकारात्मक विश्लेषण क्षमता की। आध्यात्मिक विकास के लिए मनोवृत्तियों को नैतिक बनाने की आवश्यकता है। योग इन सभी दिशाओं में प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है।

माता–पिता को चाहिए कि बालकों को शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नतिकारक तत्त्वों से परिचित कराएँ। योग के यम–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह उन्हें अहिंसक, सत्यवादी, निर्लोभी, तपस्वी और त्यागी (उदारमना) बनाते हैं। नियमों –शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान के द्वारा बालकों में पवित्रता, सन्तुष्टि, धीरता, अध्ययनशीलता और ईश्वर भक्ति के गुण स्वतः आ जाते हैं। ऐसा बालक समाज के लिए एक आदर्श होगा। वह परोपकारी बालक किसी को कष्ट नहीं देगा तथा कष्ट की पीड़ा को अनुभव करने के कारण सबसे

मैत्री भाव रखेगा। वह दूसरों के दु:ख को अपना दु:ख समझेगा जिससे मानवोचित करुणा की नदी उसमें हिलोरें लेने लगेगी। सत्य का आचरण करके वह सबका सम्मान प्राप्त करेगा। ब्रह्मचर्य का पालन करके वह सुदृढ़, बलवान और कामदेव–सम सुन्दर शरीर को प्राप्त करेगा। अतुलित बल का स्वामी वह ब्रह्मचर्यव्रती देवताओं में भी स्तुतियोग्य होगा[3] तथा कुशाग्र बुद्धि और तीव्र स्मरण शक्ति का निधान होगा। सब कुछ प्राप्त होने पर भी वह अपरिग्रह के कारण संग्रह की रुचि न होने से उदारमना होगा। अन्य के अधिकार की कोई भी वस्तु ग्रहण न करने की इच्छा वाला यह बालक सदा लोक में यश का भागी बनेगा।

शुचिता की भावना से वह अपने शरीर की अशुद्धि को जानकर सर्वदा शुद्ध उस परम चेतन तत्त्व के प्रति आसक्त हो जाएगा[4] तथा संसार में दु:ख का आधिक्य जान लेने पर[5] इससे विरक्ति हो जाएगी। सत्यान्वेषणरत होकर उसमें आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग खोजने की जिज्ञासा दृढ़ होने पर निरन्तर अभ्यास–वैराग्य की साधना से परमलक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति सहज हो जाएगी। ऐसा परम सन्तुष्ट बालक सदा सुखी रहेगा।[6] कष्ट उसके पास नहीं फटकेंगे। कठोर तपश्चर्या के जीवन से गुजरकर बालक दोषरहित स्वर्ण की तरह दमकेगा। हानि–लाभ, जय–पराजय आदि विषम परिस्थितियों में भी वह अडिग रहकर कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होता रहेगा।[7] स्वाध्यायशील बालक ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुंचेगा तथा लोक में पण्डित, विद्वान्, तत्त्ववेत्ता के रूप में ख्याति प्राप्त करेगा। यदि विद्वत्ता के साथ भक्ति भाव होता है तो अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं बचता। ऐसा बालक ईश्वरार्पण कर्म[8] करके कर्म के फलभोग से भी बचा रहकर स्वरूपावस्थान की स्थिति प्राप्त कर सकता है। अत: बालक को यम–नियमों की शिक्षा से भिज्ञ कराकर माता–पिता अपना कर्त्तव्य पालन करें।

इस समय बालक की समस्त शारीरिक चेष्टाएँ वृद्धि की ओर गति करने वाली होती हैं। अत: प्रत्येक अवयव के विकास के लिए आसनों का प्रयोग लाभकारी है।[9] कुछ व्यायामात्मक आसन जैसे– भुजंग, चक्र, धनु:, सर्वांग, हल, मत्स्य, अर्द्धमत्स्येन्द्र, बद्धपद्म, बक, कटिचक्र, मयूर, त्रिकोण, ताड़ तथा सूर्यनमस्कार आदि का (योग्य शिक्षक से सीखकर) अभ्यास करने से शरीर में चुस्ती और अंगों में शक्ति का संचार होता है। प्राणायाम के अभ्यास से प्राणशक्ति के संचरण के कारण मलों का नाश होकर चेतन तत्त्व का प्रकाश होता है।[10] प्राण दीर्घ व सूक्ष्म होकर आयु वृद्धि करता है। ध्यान के निरन्तर अभ्यास से उसमें एकाग्रता आएगी।[11] जो भी कार्य वह हाथ में लेगा, निश्चित रूप से पूर्णता को प्राप्त करेगा। मूलबंध व अश्विनी मुद्रा के अभ्यास से ब्रह्मचर्य की सिद्धि होगी। अग्निसार और उड्डीयान बंध से जठराग्नि प्रदीप्त होगी, जिससे पाचन सम्बन्धी कोई विकार न रहने से शरीर की वृद्धि और चित्त में प्रसन्नता रहेगी। ऐसा बालक शारीरिक व मानसिक दृष्टि से बलिष्ठ होगा।

किशोरों में अपने मन की बात छुपाने की आदत से माता–पिता को सजग रहने की

आवश्यकता है। वे बालकों के मन में अपने प्रति विश्वास को बनाए रखें। सहज भाव से समझाकर कार्य कराएँ तथा रूखा व्यवहार न करें तो बालक अपने सुख–दु:ख को उन्हें सहर्ष बता देगा तथा उसका निदान हो जाएगा। यदि माता–पिता उसके मन्तव्य को समझकर कदम उठाएँगे तो वह गलत मार्ग पर नहीं बढ़ेगा। बालक का कोमल मन एक बार जिस छवि को गढ़ लेता है, वह उसके चित्त पर अमिट छाप छोड़ देती है जिसे वह जीवन भर भुला नहीं पाता। इसलिए बच्चे को ऐसे संस्कारों से आप्लावित करने की आवश्यकता है जो जीवनभर उसे सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें। इसके लिए गायत्री जाप, ईश्वर स्तुति के मंत्र, भजन, संध्या, अग्निहोत्र आदि का आश्रय लिया जा सकता है। ईश्वर के प्रति भक्ति जाग्रत होने पर वह जीवनभर निराशा के पाश मे नहीं बंधेगा।

प्रभु करे, हम अपने बालकों को शुभ गुणों की शिक्षा देकर उन्नति मार्ग पर अग्रसर करने में सफल हों। योगाभ्यास का आश्रय लेकर हम निश्चित रूप से इसमें सफल हो सकते हैं–इसमें कोई सन्देह नहीं। शमित्यो३म्।

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष, योग विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

सन्दर्भ

१. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:। योग सूत्र– २/३०
२. शौच सन्तोष तप: स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमा:। योग सूत्र– २/३२
३. ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य: स्वराभरत।। अथर्ववेद– ३/५/१९
४. शौचात्स्वांग जुगुप्सा परैरसंसर्ग:। योग सूत्र २/४०
५. परिणामतापसंस्कारदु:खै गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:। योग सूत्र २/१५
६. (क) संतोषादनुत्तम सुखलाभ:। योगसूत्र २/४२
(ख) तृष्णाक्षय सुखस्यैते। योगसूत्र (व्यासभाष्य) २/४२
७. तपो द्वन्द्वसहनम्। योगसूत्र (व्यासभाष्य) २/३२
८. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति य:।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा।। भगवद् गीता ५/१०
९. (क) आसनेन रुजोहन्ति– गोरक्षसंहिता– २/११
(ख) आसनेन भवेद्दृढम्– घेरण्ड संहिता– १/१०
१०. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मला:।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा: प्राणस्य निग्रहात्।। मनुस्मृति।
११. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योगसूत्र–३

मेरुतुंगाचार्य कृत जैन मेघदूत में अलंकार-योजना

भारतीय साहित्य शास्त्र में अलंकार अपना विशिष्ट स्थान रखते है। साहित्य को सुसज्जित करने वाले उपादान के रूप में अलंकारों का विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। अलंकार काव्य के आह्लाद का हेतु होता है और काव्य में संयोगवृत्ति में विद्यमान रहता है। जैसे तिलक आदि स्त्रियों की सौन्दर्य वृद्धि करते है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि ही उसकी (अंलकार की) गति है।[1] अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो अलंकारों को काव्य का प्राणभूत तत्त्व स्वीकार किया है। ध्वनिवादी, रसवादी आचार्यो ने अलंकारों को रस भाव आदि में सहायक उपादान के रूप में काव्य का अस्थिर धर्म माना है।

अलंकार काव्य के शोभाकारक धर्म है।[2] कहीं-कहीं सौन्दर्य को ही अलंकार कहकर दोनों में अभेद किया गया है।[3] दण्डी और आचार्य वामन के अनुसार अलंकार काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले धर्म सिद्ध होते है, जबकि 'वामन' काव्य की शोभा एवं शोभाकारक धर्मों की अभिन्नता स्थापित कर उपमादि अलंकारों को काव्य शोभा का हेतु बताते है।[4] आचार्य क्षेमेन्द्र ने अलंकार की सार्थकता औचित्य के आधार पर प्रतिपादित की है।[5] चन्द्रलोकानकार 'जयदेव' ने काव्य के शब्द एवं अर्थ दोनों को उत्कर्ष देने वाले तत्त्वों को ही अलंकार माना है।[6]

आचार्य 'भामह' ने अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कविता की शोभा हेतु अलंकार की आवश्यकता प्रतिपादित की है।[7] दण्ड़ी के अनुसार अलंकृति से युक्त काव्य कल्पान्तर-पर्यन्त स्थायी होता है।[8] आनन्दवर्धन ने पूर्ववर्ती आचार्यो से भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है अब तक आचार्यों ने अलंकार को काव्य का शोभाकारक अथवा शोभा की वृद्धि करने वाला बताया था। किन्तु आनन्दवर्धन ने काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अलंकार का प्रयोग रस के उपकारक के रूप में ही स्वीकार किया है। जो काव्य के अंग शब्द और अर्थ के आश्रित है-उनको कटकादि के समान अलंकार कहते है।[9] आनन्द वर्धन की इसी धारणा को स्वीकार करते हुए मम्मट[10] तथा विश्वनाथ[11] ने अलंकार को शब्द और अर्थ रूप अंगों के द्वारा मुख्य रस के उपकारक तथा शब्दार्थ के अस्थिर धर्म कहा है। अग्निपुराणकार ने अलंकार रहित सरस्वती को 'विधवा' के समान कहा है।[12] कुन्तक तो कवित्व का आधार अलंकार को ही स्वीकार करते है।[13]

कहने का तात्पर्य है कि सभी ने काव्य के उत्कर्षाधायक साधन के रूप में अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार किया है। वैसे कुशल कलाकार की शैली में अलंकार नित्य रूप में विद्यमान रहते है।

उसकी वाणी बिना प्रयास के सुन्दरतम अलंकारों की सृष्टि करती है 'अलङ्करोति इति अलंकार:।' जो काव्य को सुशोभित करती है। 'अलंक्रियते अनेन इति अलंकार:' अर्थात् जिसके द्वारा काव्य की शोभा बढ़ायी जाती है, वह अलंकार कहलाता है। अलंकारों से शब्द सौन्दर्य और अर्थ सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। इसी से शब्दगत अलंकार को शब्दालंकार और अर्थगत अलंकार को अर्थालंकार कहते है। काव्य में अलंकार जहाँ अनायास प्रयुक्त हुए है वहां वे रस के उत्कर्ष के आवश्यक उपादान सिद्ध हुए है। इसके विपरीत जब अलंकारों का प्रयोग चमत्कार की प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है तो रस से उसका सहज सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है और काव्य में क्लिष्टता, दुरुहता आदि दोषों की उत्पत्ति होती है।

मेरुतुंगाचार्य ने अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग किया है जिसमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का तो प्रयोग बहुलता के साथ हुआ है। वसन्त ऋतु के वर्णन में श्लिष्ट रूपक का सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है।[१४] स्त्रियां वक्षस्थल पर हार धारण करती थी और मुख में हा—हाकार के शब्द धारण कर रही थी। इस प्रकार भगवान् नेमिकुमार द्वारा शंख बजाने पर नगर की स्त्रियों के द्वारा वक्षस्थल के समान मुख पर हारावाप्ति धारण कराकर कवि ने श्लेष की सुन्दर प्रस्तुति की है।[१५]

परवर्ती आचार्यों ने अधिकतर अलंकारों के मूल में उपमा की सत्ता मानी है जैसे ब्रह्मज्ञान हो जाने पर समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से सम्पूर्ण चित्र काव्य का ज्ञान हो जाता है। सुन्दर तथा सुस्पष्ट समता के प्रयोग को उपमा कहा जाता है।[१६] काव्य में उपमा का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है उसका मनोवैज्ञानिक आधार यह है कि विरहावस्था में मेघ को सन्देश देते समय अपनी तथा अपने प्रियजनों की स्थितियों को बताने में विभिन्न उपमानों को जुटाने का प्रयत्न करते रहते है।

भगवान् नेमिनाथ द्वारा परित्यक्ता राजीमती को कीचड़ से आर्द्र वस्त्र के समान तथा त्यागी गयी सर्प की केंचुली के समान[१७] बताकर कवि ने नारी की दयनीय दशा को साकार कर दिया है। पात्रों की स्थितियों के अनुरूप उपमा योजना में मेरुतुंगाचार्य सिद्धहस्त है। उन्होंने अपने काव्य में रम्य उपमाओं की झड़ी सी लगा दी है। कोकिल योद्धाओं को धीरता पूर्वक ललकारते हुए श्रेष्ठ बन्दी जनों के समान कल—कल शब्द करती है[१८] शाखाओं पर लगे हुए ऋतु सम्बन्धी पुष्प वीरों के तरकशों में चमकते हुए, सुवर्ण वाले बाण समूह के समान सुशोभित होते है।[१९]

नेमिनाथ का जन्म होने से त्रिलोक में व्याप्त अज्ञानान्धकार सूर्योदय के समय अन्धकार समूह के समान नष्ट हो जाता है।[२०] विभिन्न देवताओं द्वारा क्रीड़ा बावड़ियों में भगवान् नेमिनाथ का अनुरन्जन, ऊपर नीचे उठने वाली तरंगों द्वारा हंस के मनोरंजन के समान कराया है।[२१] उनका

शारीरिक सौन्दर्य स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल एवं पवित्र प्रतीत होता है।[22] बल, दीप्ति आदि से सम्पन्न भगवान् नेमिकुमार को तेज में कल्पवृक्ष के समान वर्णित किया गया है।[23] यौवन सम्पन्न स्त्रियों के साथ क्रीडा करते हुए यदुकुमारों के प्रमदवन को कामीजनों के निवास हेतु घोंसलें के समान बताया है।[24]

भगवान् नेमिकुमार के शंख फूंकने पर प्रसिद्ध शस्त्रों के रक्षक शीघ्र नष्ट हुई चेतना वाले होते हुए, कटी हुई जड़ वाले वृक्ष के समान पृथ्वी पर गिर पड़ते है।[25] युद्ध के लिए सन्नद्ध राजा ध्वजाओं के समूह से सुन्दर, सिन्दूर से लिप्त, वर्णनीय सुवर्णमय रंगीन झूले वाले गजेन्द्रों के समान प्रतीत होते हैं।[26] पुष्प मुकुट पहने हुए, चमेली की माला एवं भुजबन्द वाले, मौलसिरी के पुष्प से विरचित कंकण वाले, कमलिनी के तन्तु से बनी मुद्रिका पहने हुए श्रीनेमिनाथ पुष्पित पारिजात वृक्ष के समान सुशोभित हुए।[27] विकसित अशोक वृक्ष की जड़ में स्थित हुए श्री नेमिनाथ भगवान् को मदजल बहाने वाले हाथी के समान, निर्झर सखी काजल पर्वत के समान, थोड़ा बरसते हुए मेघ वाले पिण्ड़ी भूत शरत्कालीन आकाश के समान वर्णित किया गया है।[28]

माता–पिता से राजीमती से पाणिग्रहण की सहमति प्रदान कर पुनः विवाह प्रस्ताव से निवृत्त हुए भगवान नेमिकुमार पत्थरों पर टकराये हुए नदी के प्रवाह के समान प्रतीत होते है।[29] जीवन के स्वामी श्री नेमिनाथ के पाणिग्रहण भूमि से वापिस लौट जाने के समाचार से राजीमती भूमि पर अत्यधिक टकराने से, जड़ से टूटी हुई वृक्ष वाली लता के समान गिर जाती है।[30] युद्ध के लिए तत्पर श्रीकृष्ण एवं नेमिकुमार को कवि ने परस्पर टकराते हुए अञ्जन नामक दो बड़े पर्वतों के समान बतलाया है।[31] विरह के प्रसंग में अत्यधिक व्याकुल राजीमती को कवि ने चक्रवाको के समान बतलाकर मानों इसकी पीड़ा को सवाक् कर दिया है।[32] विरहावस्था की तीव्रता का चित्रण करने में तो कवि ने उपमानों की बाढ़ सी लगा दी है। विरहावस्था में नदी अंगारों की खाई के समान, रेशमी वस्त्र भूसी की अग्नि के समान, चन्द्रमा दावाग्नि के समान, कमल बिच्छू के समान तथा आभूषण त्रिकूट औषधि के समान हो जाते है।[33] इस प्रकार उपमा का प्रयोग परिस्थिति के अनुरूप और अत्यन्त स्वाभाविक है।

उपमेय के साथ उपमान की सम्भावना उत्प्रेक्षा है।[34] उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य भी काव्य में विकीर्ण है। जिसको उत्प्रेक्षा कहकर लोग टाल दिया करते है उसकी योजनात्मक शक्ति का प्रस्फुटन है। महाकवि मेरुतुंग कल्पनाशील कवि है उन्होंने अपनी नूतन कल्पना के बल पर उत्प्रेक्षा अलंकार की मनोहारी योजना की है। उद्यान में भगवान नेमिकुमार के दर्शन करने पर विकसित हुई मञ्जरियों वाले वृक्ष दक्षिण पवन की लहरों से हिलते हुए ऐसे प्रतीत होते है कि मानों उनके स्वागतार्थ अपना सिर हिला रहे है।[35]

उद्यानों के शिखर पर सरल नामक वृक्ष के तने का आलिङ्गन करने वाली, मध्य भाग में पुष्पों के गुच्छों के कारण झुकी हुई, सुगन्ध के कारण दीर्घ भ्रमर पंक्तियों से आश्रय ली जाती हुई लताएं ऐसी प्रतीत होती है मानों बाण सहित प्रत्यञ्चा चढ़े हुए कामदेव के धनुष की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गयी है।[36] स्नान करके बावड़ी से निकलते हुए भगवान् नेमिनाथ ऐसे प्रतीत होने है कि मानों देवगण ऐरावत समुद्र से बाहर निकल रहा हो।[37] जल की बूँदों को वमन करते हुए, शब्दों में आसक्त चंचल भ्रमरों के द्वारा स्पर्श करने योग्य, भगवान नेमिकुमार के कर्णाभूषण के रूप में धारण किये गये दो कमल उनके दोनों नेत्रों से स्पर्धा करने के कारण मानों पश्चाताप से सन्तप्त हो रहे है।[38] कोकिल के कलरव, भौंरों की मनोज्ञ गुञ्जार तथा बांसों की ध्वनि आदि के द्वारा श्रीकृष्ण और नेमिनाथ दोनों के प्रति भक्ति से मानों नाटक सा रचा गया है।[39] श्रीकृष्ण और स्वामी नेमिकुमार के क्रीडा उद्यान में प्रवेश करने पर, पृथ्वी पर गिराये गये आभ ऐसे प्रतीत होते है कि मानों ज्येष्ठ मास में झुकी हुई शाखाओं वाले आम्रवृक्षों के द्वारा उनको भेंट प्रस्तुत की गई है।[40]

विवाह के लिए प्रस्थान करते हुए नेमिनाथ के मार्ग से लौट आने के भय से ही मानों हाथी, घोड़, रथ पर आरूढ़ तथा पैदल यादव वंशीय श्रेष्ठ वीर उनके चारों ओर चल रहे थे।

उपमेय और उपमान में अभेदारोप ही रूपक है।[41] काव्य में रूपक की सुन्दर छटा दर्शनीय है। कवि मेरुतुंग ने भी भगवान् नेमिनाथ में धैर्य, औदार्य आदि गुणों को मणियों के रूप में देखा है।[42] स्वामी नेमिकुमार के गुणों को ब्रह्मा जी दिन में आकाश रूपी पट्टिका पर, चन्द्रमा रूपी खड़िया के पात्र को लेकर, रात्रि में क्रान्ति रूपी लेखनी से नक्षत्रों के बहाने लिखते है।[43] श्रीकृष्ण के साथ होने वाले मल्लयुद्ध में भगवान् नेमिनाथ की भुजाओं को समुद्र तक फैले हुए सुदृढ़ हिमालय पर्वत के रूप में बतलाया गया है।[44] आम्रवृक्ष पर बैठी हुई कोकिल प्रत्येक दिशा में ऊँचें स्वर से कल–कल शब्द करती हुई कामदेव रूपी राजा को जीतने वाले यति रूपी योद्धाओं को धीरता पूर्वक ललकारते हुए प्रतीत होती है।[45] वसन्त वर्णन में कवि ने शाखाओं में भुजाओं का तथा वृक्ष से योद्धा[46] कमलों से युक्त बावड़ी में मुख, कोशिका में स्पष्ट राग का रूप कल्पित किया है।[47] वाणियां जल की सन्तान मधुर शब्द वाले पक्षियों को हाथ रूपी कमलों से खिलाती हुई सुशोभित होती है।[48] विवाह मण्ड़प के वर्णन में कवि ने मनोज्ञ वाद्य यन्त्रों की ध्वनि में मेघ गर्जन, रेशमी वस्त्र निर्मित चन्दोपे में उन्नत मेघ पंक्ति, दर्पण में विद्युत, रत्न जटित सुवर्ण निर्मित तोरण माला में चमकते हुए इन्द्रधनुष[49] रूपकों की सम्यक् योजना की है। राजीमती द्वारा श्री नेमिकुमार के दर्शन किये जाने पर कवि ने उसके दक्षिण नेत्र के स्फुरण द्वारा उसके मनोरथ रूपी कमलों की पंक्ति को संकुचित होते हुए दिखाया है।[50] श्री नेमिनाथ द्वारा महामोह रूपी योद्धा को जीत लेने पर सखियां राजीमती को भी पति के प्रति उत्पन्न महामोह रूपी मल्ल को ज्ञान रूपी हथियार से नष्ट करने की बात कहती है।[51] इस प्रकार काव्य में सांग एवं निरंग रूपकों की मनोहारी छटा दिखाई देती है।

समान धर्म वाले विषयों का बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव से वर्णन ही दृष्टान्त है।[५२] जैन मेघदूत मे दृष्टान्त अलंकार के सुन्दर प्रयोग देखने को मिलते है। राजीमती द्वारा प्रेषित सन्देश से मेघ स्वामी नेमिनाथ को उसी प्रकार सान्त्वना देगा जिस प्रकार दावाग्नि से दग्ध वन को जल की धारा शान्त करती है।[५३] मेघ मार्ग में गर्जन युक्त दो बिजलियां सेवन करती है जिस प्रकार राजहंस और राजहंसिनी सरोवर का सेवन करती है।[५४] श्री नेमिकुमार के जन्म लेने पर त्रिलोक में व्याप्त अन्धकार समूह का विनाश और अत्यधिक प्रकाश का प्रसार हो जाता है। सूर्योदय होने पर भी अन्धकार का नाश और सर्वत्र प्रकाश हो जाता है।[५५]

पाञ्चजन्य शंख के बजाने पर योद्धा के हाथ से हथियार ऐसे गिर जाते है जैसे फाल्गुन मास में वृक्ष से पत्ते और पर्वत से बड़ी–बड़ी चट्टानें गिर जाती हैं।[५६] मल्लयुद्ध के समय भगवान् नेमिकुमार लीलापूर्वक भुजा चलाकर श्रीकृष्ण को वायु द्वारा हिलायी गयी शाखा के समान हिला देते है।[५७] पराजित होने पर लज्जायुक्त होते हुए भी अधिक हास्ययुक्त मुख वाले बलिष्ठ श्रीकृष्ण स्वामी नेमिनाथ का आलिङ्गन कर अपने को वसन्त और वायु द्वारा सहायक कामदेव और अग्नि के समान अजेय बतलाते है।[५८] निश्चित रूप से चन्द्रमा भी काल की व्यवस्था करता हुआ अपनी रोहिणी आदि स्त्रियों को काल–व्यवस्था हेतु प्रेरित करता है।[५९] भगवान् नेमिनाथ को वचनों द्वारा असाध्य बतलाया है क्योंकि खौलता हुआ घी जलबिन्दुओं द्वारा साध्य नहीं होता।[६०] वन गमन करते हुए श्री नेमिकुमार राजीमती द्वारा उसी प्रकार देखे गये जिस प्रकार कमलिनी द्वारा जल से वन को जाता हुआ सूर्य देखा जाता है।[६१] राजीमती का यह कथन भी द्रष्टव्य है– हे लोक के नाथ! यदि तुम बिना दोषारोपण के मेरा त्याग कर देते हो तो निश्चित रूप से निन्दा रूपी लाञ्छन को प्राप्त करोगे। निश्चित ही बहाने के बिना यमराज भी शरीरधारियों को नहीं मारता।[६२] इस प्रकार दृष्टान्त अलंकार के प्रयोग से कवि की योजनात्मक शक्ति का परिचय मिलता है।

विरोध न होने पर भी विरुद्ध के समान प्रतीति होना विरोधाभास है।[६३] भगवान् नेमिनाथ के अलौकिकत्व के वर्णन में विरोधाभास का चमत्कार देखने को मिलता है वे स्नान न किये हुए भी स्फटिक मणि के समान निर्मल, अनलंकृत होते हुए भी सुन्दर रूप वाले तथा स्तन के दूध का पान न करने पर भी पुष्ट इन्द्रियों वाले थे।[६४] अर्थात् वे जन्म से अलौकिकता को धारण करने वाले थे। कल्याणों के समुद्र होते हुए भी पांच भद्रों (कल्याणों) की मुद्रा वाले है। स्वामी नेमिनाथ निम्न वर्ण अर्थात् शूद्र वर्ण का स्थापक होते हुए भी प्रधान और प्रबलता से शोभायमान क्षत्रिय रूप वर्ण वाली राजीमती का त्याग कर देते है।[६५]

प्रसिद्ध उपमान की उपमेय में कल्पना करना ही प्रतीप है।[६६] कमल श्री नेमिकुमार के चरणों से, कदली स्तम्भ दोनों जंघाओं से, मन्दाकिनी का निर्मल तट कटिप्रदेश से, शोण नामक नद नाभि

प्रदेश से, नगर का मुख्य द्वार वक्षस्थल से, पूर्ण चन्द्र मुख से, कमल पत्र दोनों नेत्रों से, पुष्प सौरभ मुख की सुगन्धियों से और अभागा रत्न उनके शरीर से सादृश्य धारण करता है।[६७]

प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म से सम्बन्ध होना ही दीपक अलंकार है।[६८] चिकने, काजल और मेघ के समान शरीर वाले उन नेमिनाथ ने सफेदी से दही का भी अतिक्रान्त करने वाले शंख से शोभा विशेष को प्राप्त किया।[६९] प्रकृति द्वारा परब्रह्म को अपने वश में करते रूप श्रीकृष्ण की पत्नी ने लाल कमलों से निर्मित माला से अलौकिक व्यक्तित्व सम्पन्न श्री नेमिकुमार के कटिभाग को करधनी के बहाने से बांध दिया।[७०] कामबाणों से पीड़ित हुई श्री नेमिकुमार को देखने की इच्छा करती हुई राजीमती को चन्द्रमा को देखकर बैचेन हुई चकोरी के सदृश बतलाया गया है।[७१]

किसी वस्तु के देखने पर अन्य का स्मरण होना ही स्मरणालंकार है। उदाहरणार्थ एक नमूना द्रष्टव्य है– राजीमती द्वारा स्वामी नेमिनाथ के प्रति आप प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाणों के द्वारा त्याग करते हुए, देखे जाते हुए तुमने अतिशय रूप से मेरे दु:ख का उतना पोषण नहीं किया जितना पूर्वानुभव के कारण स्मृति को प्राप्त हुए तुम क्लेश देने वाले हुए हो।[७२]

अभिप्राय: युक्त विशेषणों द्वारा विशेष्य की यदि पुष्टि करना ही परिकर है।[७३] लोकातिक्रान्त, अतिशायिनी, शोभासम्पन्न नेमिकुमार का यौवन प्रत्येक के द्वारा वरणीय बतलाया गया है।[७४] उनके धैर्य, औदार्यादि गुणों रूपी मणियों का वर्णन करने के लिए आकाश–पाताल स्वर्गादिमें विद्यमान मुख्य देवगण, सूर्य, इन्द्रादि हजारों मुख, हाथ और नेत्र को धारण करते थे।[७५] भगवान् नेमिकुमार को सौभाग्य, अतुलनीय बल, लावण्य, अपरिमित ज्ञान, मैत्री, सन्तोष, दया, क्षमा, कान्ति, बुद्धि और वाणी से सम्पन्न बतलाया है।[७६] कुटिल, सरल, सब ओर से असिफल या तीरों से समृद्ध विकासशील, शोभासम्पन्न शस्त्र कतार को तरंग समूह के समान दर्शाया गया है।[७७]

साधर्म्य और वैधर्म्य से सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन ही अर्थान्तर न्यास है।[७८] जैन मेघदूत में अर्थान्तरन्यास अलंकार के सुन्दर प्रयोग मिलते है। परित्यक्ता राजीमती कहती है भाग्य के प्रतिकूल भाव धारण कर लेने पर विश्वसनीय व्यक्ति भी शत्रु के समान आचरण करने लगता है। बच्चे को बांधने में माता की जंघा क्या कील नहीं हो जाती।[७९] हजार से युद्ध करने की सामर्थ्य वाले पुरूष का साधारण जन की तरह ऊँचे–नीचे भाव से युक्त होना शोभा को धारण नही करता है क्योंकि प्रधान चन्द्रकान्तादि मणि का निकषोपल पर घिसा जाना शोभादायक नहीं होता।[८०]

५३. जैन मेघदूतम् १/८
५४. वही १/१०
५५. वही १/१७
५६. वही १/३७
५७. वही १/४८
५८. वही १/४९
५९. वही २/१७
६०. वही ३/१३
६१. वही ३/४२
६२. वही ४/३०
६३. विरोध: सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच:। काव्यप्रकाश:, आचार्य मम्मट पृ. ५३७, १०/१६६
६४. जैन मेघदूतम् १/२१
६५. वही ४/३३
६६. प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्व प्रकल्पनम्। आचार्य विश्वनाथ और साहित्य दर्पण, पृ. २०९
६७. जैन मेघदूतम् १/२३, २४
६८. अप्रस्तुत प्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते। आचार्य विश्वनाथ और साहित्य दर्पण, पृ. २००
६९. जैन मेघदूतम् १/३५
७०. वही २/२१
७१. वही ३/३७
७२. वही ४/३१
७३. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्ति: परिकरस्तु स:।
काव्यप्रकाश:, आचार्य मम्मट: पृ. ५६४, १०/१८३
७४. जैन मेघदूतम् १/२२
७५. वही १/२५
७६. वही १/२८
७७. वही १/३२
७८. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास: साधर्म्येणेतरेन वा।।
काव्यप्रकाश:, आचार्य मम्मट:, पृ. ५३४, १०/१०९
७९. जैन मेघदूतम् १/७
८०. वही १/४०

नोट :– लेखिका के सभी विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

सर्वस्व त्यागी गेन्दालाल जी दीक्षित

(१८८८-१९२०)

आज के युग में जब हम सब का महामंत्र इदम् सर्वम् मम है। आईये, उस त्यागी पुरुष का भी स्मरण कर लें जिस का मंत्र था, इदन्नमम। उस त्यागी पुरुष का नाम था, **गेन्दालाल दीक्षित**।

आप का जन्म आगरा जिले के बटेसर के पास मई ग्राम में २० नवम्बर १८८८ को हुआ। मैट्रिक तक शिक्षा पाई। आर्थिक कारणों से आगे न पढ़ सके। औरैया के डी.ए.वी. स्कूल में अध्यापक हो गए। दृढ़ आर्य समाजी थे। देश उस समय अग्नियुग में से गुजर रहा था। इन्होंने भी सर्वस्व न्यौच्छावर का व्रत धारण कर लिया। शिवाजी उन के आदर्श पुरुष थे। उन्होंने शिवाजी समिति का गठन किया और भरती शुरू की। पढ़े लिखे नवयुवकों से निराश होकर उन्होंने चम्बल के डाकुओं में काम करना शुरू किया। उन्हें एक व्यक्ति मिल गया, जिसे लोग ब्रह्मचारी कहते थे। इन्होंने एक धनी के यहाँ डाका डालने का निश्चय किया। उनके दल में ४० व्यक्ति थे। एक भेदिया निकला। लोग भूखे थे। स्वयं पूड़ी लाने का बहाना बनाकर गया, और उनमें विष मिलाकर ले आया। ब्रह्मचारी ने जब पूड़ी मुंह में डाली, उनकी जीभ ऐंठने लगी। उन्हें शक हो गया। पास पड़ी बन्दूक से उन्होंने भेदिये का काम तमाम कर दिया। आस–पास पुलिस के सवार गुज़र रहे थे। गोली की आवाज सुनकर वह इधर आ गए। जम कर लड़ाई हुई। ब्रह्मचारी के दल के ३५ आदमी मारे गए। ब्रह्मचारी, गेंदालाल तथा अन्य व्यक्ति गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हें ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया।

गेन्दालाल ने "मातृवेदी" नाम से एक भले घर के नौजवानों की टोली का संगठन किया था। जब इन लोगों ने सुना, गेन्दालाल जी कैद हो गए हैं, तो उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न किया। किन्तु यह षड्यन्त्र भी फूट गया। सोमदेव मुख़बिर बन गया, और उसने बयान दिया कि गेन्दालाल इस षड्यन्त्र के नेता हैं। गेन्दालाल जी को ग्वालियर से मैनपुरी लाया गया। वह क्षय रोग से पीडित थे। स्टेशन से जेल उन्हें पैदल लाया गया। रास्ते में वह कई बार उठते–बैठते जेल पहुंचे।

स्थिति बड़ी विकट थी। गेन्दालाल जी ने अधिकारियों से कहा, यह छोकरे क्या मुख़बिर बनेंगे ? मुख़बिर मैं बनूंगा। मैं तो बंगाल और बम्बई के क्रान्तिकारियों को जानता हूँ, उन्हें भी पकड़वा दूंगा। पुलिस झांसे में आ गई। खुश होकर उन्हें मुख़बिरों में रख दिया। मुख़बिर और अभियुक्त दोनों दंग थे।

एक दिन सवेरे गेन्दालाल जी गायब पाए गये। साथ में रामनारायण मुख़बिर को भी लेते गये। दोनों कोटा पहुंचे। वहां रामनारायण ने उन्हें एक कोठड़ी में बन्द कर दिया। खैरियत हुई कि उसने पुलिस में रिपोर्ट नहीं की। तीन दिन बाद गेन्दालाल कोठंड़ी से निकल पाए और पैदल आरा पहुंचे। पर उन्हें कोई आश्रय नहीं मिला। फिर उन्होंने घर की ओर प्रस्थान किया।

इधर घर वालों का बुरा हाल था। पुलिस उन्हें तंग कर रही थी। स्थिति की गम्भीरता देखकर उन्होंने गृहत्याग का निश्चय किया। अन्त में वें दिल्ली पहुंचे। पास में एक टका न था। पुलिस पीछे पड़ी थी। साथी जेल में थे या फ़रार । रिश्तेदार पकड़वाने को तैय्यार। क्रान्ति की सफलता तो दर किनार, सगे सम्बन्धी, मित्र सभी अविश्वसनीय। ऐसी मानसिक, शारीरिक व्यथा में वह एक प्याऊ पर नौकर हो गए। जब शरीर ने बिल्कुल जवाब दे दिया, उन्होंने एक मित्र को पत्र लिखा। वह सच्चा साबित हुआ। उनकी पत्नी को लेकर दिल्ली पहुंचा। उसने बड़ी श्रद्धा से उनकी सेवा की, किन्तु रोग बढ़ता ही गया।

ऐसी अवस्था में जब मृत्यु करीब थी, उनकी पत्नी रो पड़ी। बोले, "तुम रोती क्यों हो? रोने से क्या हासिल ? मैं तो मर रहा हूँ, परन्तु जिस कार्य का बीड़ा उठाया था, उसके सिद्ध होने के कोई आसार नहीं है। मेरा शरीर नष्ट हो जाएगा, किन्तु मैं मोक्ष नहीं मांगता। मैं चाहता हूँ, कि बार–बार इसी पवित्र देश में जन्म लूं और बार–बार मातृभूमि के लिए मरूँ, जब तक कि देश गुलामी की जंजीरों से मुक्त न हो जाये।"

जो लोग उनकी देखभाल कर रहे थे, उन्हें अन्देशा था कि कहीं पुलिस को भनक लग गई, तो उनकी आफ़त आ जायेगी। उन्होंने समझा बुझाकर उनकी पत्नी को घर लौटा दिया, और उन्हें सरकारी हस्पताल में भरती करा दिया। इस हालत में, अकेले पड़े, बे--सरोसामान इस वीर योद्धा का २१ दिसम्बर १९२० को ३२ वर्ष की अल्पायु में जीवन दीप बुझ गया।

बलभद्र भारती
(पूर्व कुलपति–
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
गोवर्धन, ए–१५ ए तिलक नगर,
जयपुर –४

स्वामी आत्मबोध सरस्वती (महात्मा आर्य भिक्षु) को शत-शत नमन

हरिद्वार । आर्य जगत् के विख्यात संन्यासी स्वामी आत्मबोध सरस्वती (पूर्व नाम महात्मा आर्यभिक्षु) का ४ सितम्बर को प्रातः आर्य वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर में निधन हो गया। वे ८० वर्ष के थे।

स्वामी आत्मबोध वेद प्रवचन हेतु आर्य समाज, मुम्बई (काकड़बाड़ी) गए हुए थे। वहाँ उन्होंने तीन बार अपने विचार रखें। इसी मध्य उनकी तबियत अचानक बिगड़ गयी। वे अस्वस्थता की स्थिति में ही आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरांचल के मंत्री श्री देवराज आर्य के साथ ज्वालापुर वापिस लौट आएं। आश्रम में पहुंचने पर उनकी तबियत और अधिक बिगड़ गयी जहाँ चिकित्सक एवं पूर्व प्रधान डॉ. कृष्णदेव के अथक् प्रयासों के बावजूद उन्हें नहीं बचाया जा सका।

अगले दिन उनका अन्तिम संस्कार वैदिक मंत्रोच्चारण के साथ कनखल श्मशान घाट पर कर दिया गया। देश के कोने-कोने से आए हुए सैकड़ों आर्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों एवं आश्रमवासियों की उपस्थिति के मध्य उनकी चिता को मुखाग्नि गुरुकुल आश्रम, लखनऊ के कुलपति आचार्य रामकृष्ण शास्त्री, प्रान्तीय मंत्री देवराज आर्य एवं आश्रम के मंत्री यशवन्त मुनि ने दी। इस अवसर पर आयोजित प्रार्थना सभा में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलसचिव प्रो. महावीर ने स्वामी जी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा कि वैदिक धर्म का प्रचार करने वाला एक दीपक बुझ गया। स्वामी जी ने अपने जीवन को समिधा बनाकर वेद और मानवता की ज्योति को जलाएं रखा। उन्होंने अन्तिम समय तक महर्षि दयानन्द के सन्देश को घर-घर तक पहुंचाने के लिए अपने जीवन को बलिदान कर दिया। उनकी अन्तिम यात्रा में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामंत्री श्री वेदव्रत शर्मा, आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के मंत्री वैद्य इन्द्रदेव, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरांचल के प्रधान श्री यशपाल आर्य, उपप्रधान श्री देवदत्त बाली, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के मंत्री एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार, उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, डॉ. रामनाथ वेदालंकार, स्वामी रामदेव आदि सम्मिलित थे।

स्वामी आत्मबोध सरस्वती ने देश के एक छोर से दूसरे छोर तक वैदिक धर्म का प्रचार कर आर्य समाज की चिरस्मरणीय सेवा की। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' को अपना आदर्श बनाया। वृद्ध आर्यजनों, असहाय महिलाओं, विद्यार्थियों के वेद पठन-पाठन तथा वैदिक साहित्य के प्रकाशन हेतु उन्होंने 'माता लीलावती आर्यभिक्षु परोपकारिणी न्यास' की स्थापना की थी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा सहित अनेक आर्य संस्थाओं के लिए उन्होंने अनेक स्थिर निधियो की भी स्थापना की थी। उनकी सेवा और समर्पण को देखते हुए आर्य समाज, मुम्बई द्वारा ३० अगस्त को शॉल ओढ़ाकर तथा कुछ धनराशि और रजत-कलश प्रदान कर उनका अभिनन्दन किया गया था।

स्वामी आत्मबोध सरस्वती की स्मृति में ८ सितम्बर को आर्य वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर में प्रधान डॉ. आनन्द अभिलाषी (डॉ. सुभाष चन्द्र जसूजा) की अध्यक्षता में श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया। वैदिक विद्वान डॉ. रामनाथ वेदालंकार ने इस अवसर पर कहा कि व्यक्ति द्वारा किए गए सत्कार्य और उसके गुण ही उसे इस धरती पर चिरस्थायी बनाते हैं। स्वामी आत्मबोध त्याग और

तपस्या की मूर्ति थे। उन्होंने अनेक भटके हुए लोगों को आर्य समाज का सिपाही बनाया। आर्ष कन्या गुरुकुल, नजीबाबाद की आचार्या डॉ. प्रियम्वदा ने कहा कि महात्मा आर्यभिक्षु प्रखर दयानन्दी थे। वे हमेशा ऋषि के विषय में ही बोलते थे।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के पूर्व मंत्री डॉ. सच्चिदानन्द शास्त्री ने कहा कि स्वामी जी की वाक् शक्ति में आकर्षण था। वह अपने विचारों से लोगों को शीघ्र ही प्रभावित कर लेते थे। उन्होंने हिन्दी आन्दोलन में बढ़–चढ़कर भाग लिया था और जेल गए थे। आचार्य आर्य नरेश ने कहा कि वे दयानन्द के भिक्षु थे। आचार्य हरिगोपाल शास्त्री ने कहा कि स्वामी जी के जीवन को स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती ने भी प्रभावित किया था।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री ने कहा कि स्वामी आत्मबोध का तन, मन, धन आर्य समाज के लिए था। उन्होंने आर्य वानप्रस्थ आश्रम से स्वामी जैसा उपदेशक उभारने की अपील की। प्रो. जयदेव वेदालंकार ने कहा कि वह धर्मात्मा होते हुए एक प्रशासक भी थे।

गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलसचिव प्रो. महावीर ने अपनी श्रद्धांजलि देते हुए कहा कि स्वामी आत्मबोध वेद प्रचार से प्राप्त धन को आर्य समाज और असहाय लोगों के हित में लगाते थे। 'आर्य लोकावार्ता' के सम्पादक श्री वेदप्रकाश आर्य ने कहा कि स्वामी आत्मबोध ने वैदिक सिद्धान्तों के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत किया। वह लोकवार्ता के संस्थापक थे। उन्होंने लेखन के माध्यम से आर्य समाज की महती सेवा की।

गुरुकुल आश्रम, लखनऊ के कुलपति आचार्य रामकृष्ण शास्त्री ने कहा कि महर्षि दयानन्द, आर्य समाज और सत्यार्थ प्रकाश स्वामी आत्मबोध के परम लक्ष्य थे। उन्होंने दयानन्द के सन्देश को घर–घर तक पहुंचाने के लिए अपने जीवन को बलिदान कर दिया। आर्य वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर के प्रधान डॉ. सुभाषचन्द्र जसूजा ने कहा कि स्वामी आत्मबोध अनुशासन प्रिय थे। उन्होंने आश्रम की मर्यादाओं का हमेशा ध्यान रखा। उन्होंने अन्तिम समय तक आश्रम की सुगन्ध को आर्य जगत् में फैलाया।

आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरांचल के मंत्री श्री देवराज आर्य ने उनकी अन्तिम यात्रा का वर्णन करते हुए कहा कि हमें उनके जीवन से प्रेरणा लेकर आर्य समाज तथा समाज सेवा के क्षेत्र में निष्काम भावना से आगे आकर कार्य करना चाहिएं, तभी हम महर्षि के ऋण से उऋण हो सकेंगे। इनके अतिरिक्त इस अवसर पर आचार्य विद्यारत्न, श्री हरिपाल सिंह एडवोकेट, उषा सूद, लक्ष्मी आर्या, सत्यप्रकाश गुप्त, महीपाल सिंह शास्त्री, गिरधारीलाल चन्दवानी, सोमपाल, श्रीमती सरोज आर्या, लक्ष्मी आर्या (ज्वालापुर), के.एल. सोनी, सन्तोष रंगन, उर्मिल मेहता, विमला गुप्ता, रुक्मणी आर्या, यशवन्त मुनि, राज चोपड़ा, शोरीलाल, राज मेहता ने भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

इससे पूर्व प्रात: आचार्य रामकृष्ण शास्त्री के ब्रह्मत्व में शांति यज्ञ का आयोजन किया गया। स्वामी आत्मबोध के स्मरणकर्त्ताओं ने विशिष्ट मंत्रों से आहुतियां डालीं।

सभा का संचालन यशवन्त मुनि और आभार डॉ. सुभाष चन्द्र जसूजा ने व्यक्त किया।

देवराज आर्य
महामंत्री
आर्य प्रतिनिधि सभा,
उत्तरांचल

उत्तरांचल आर्यप्रतिनिधि सभा के महामंत्री श्री देवराज आर्य कार्यकर्त्ता पुरस्कार से सम्मानित

हरिद्वार, ११ सितम्बर । आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरांचल के मंत्री देवराज को आर्य समाज, मुम्बई में **'आर्य कार्यकर्त्ता पुरस्कार'** से सम्मानित किया गया। काकड़बाड़ी में आयोजित सम्मान समारोह में यह पुरस्कार उन्हें आर्य समाज में समर्पित भावना से की गयी सर्वश्रेष्ठ सेवाओं के लिए प्रदान किया गया।

स्वामी आत्मबोध सरस्वती तथा आर्य समाज, मुम्बई द्वारा सम्स्थापित निधि से राष्ट्रीय स्तर पर दिए जाने वाले इस पुरस्कार को समाज के मैनेजिंग ट्रस्टी अश्विन भाई पटेल ने प्रदान किया। उन्होंने तालियों की गड़गड़ाहट के बीच देवराज को शॉल ओढाकर तथा प्रशस्ति—पत्र, ग्यारह हजार रूपये एवं रजत कलश प्रदान कर सम्मानित किया।

समाज सेवा का पावन संकल्प धारण कर अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक सुखों की इच्छा का परित्याग करने वाले ५१ वर्षीय देवराज आर्य अनेक धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक संस्थाओं तथा पत्रकारिता से जुड़े हुए है। वह जिला आर्य उप प्रतिनिधि सभा तथा आर्य समाज ज्वालापुर के प्रधान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सीनेटर, माता लीलावती आर्यभिक्षु परोपकारिणी ट्रस्ट के मंत्री, भारत विकास परिषद् तथा अनेक विद्यालयों की प्रबन्ध समितियों के पदाधिकारी एवं सदस्य है। इससे पूर्व वह पत्रकारिता एवं सामाजिक जीवन में सहभागिता तथा स्थानीय समुदाय में प्राप्त प्रतिष्ठा के आधार पर अनेकों बार सम्मानित किए जा चुके है।

उनकी इस उपलब्धि पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार, उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, कुलसचिव प्रो. महावीर, आर्य प्रतिनिधिसभा उत्तरांचल के प्रधान यशपाल आर्य, देवदत्त बाली, प्रमुख उद्योगपति यू.सी. जैन, प्राचार्य डॉ. एन.के. गर्ग, वरिष्ठ पत्रकार प्रो. पी.एस. चौहान, कौशल सिखौला, आर्य समाज मुम्बई के प्रधान करसनदास जे. राणा, मंत्री राजेन्द्र नाथ पाण्ड्येय, प्रधानाचार्य आदर्शपाल सिंह तोमर, प्रो. काश्मीर सिंह, डॉ. श्रवण कुमार, कौस्तुभ पाण्डे, प्रधानाचार्य डॉ. पी.के. शर्मा, डॉ. आनन्द अभिलाषी, भेल के अपर महाप्रबंधक एस.के. शर्मा, भारत विकास परिषद् के अध्यक्ष अविनाश चन्द्र ओहरी, राजकुमार चौहान एडवोकेट, डा. दिनेश शास्त्री, डॉ. राजकुमार रावत, हजारीलाल अग्रवाल, प्रकाश चन्द्र चौहान, गिरधारीलाल चन्दवानी, यशवन्त मुनि, रुक्मणी आर्य, कैलाशनाथ, सरोज आर्या, वीना जयकुमार , लक्ष्मी आर्या, हेमलता, अमित ने उन्हें बधाई दी हैं।

सम्पादक